

भारतीय अर्थ-नीति

विकास की एक दिशा

पं. दीनदयाल उपाध्याय

विषय सूची

अध्याय	पृष्ठ
1. जीवन-झांकी : पण्डित दीनदयाल उपाध्याय	1
2. अर्थ चिन्तन	4
3. भारतीय संस्कृति में अर्थ	8
4. आधारभूत लक्ष्य	13
5. प्राथमिकताएँ	17
6. कृषि	23
7. उद्योग	36
8. मनुष्य और मशीन	40
9. पूंजी और प्रबन्ध	48
10. माल, मांग और औद्योगिक प्राथमिकताएँ	58
11. छोटे और बड़े उद्योग	63
12. यातायात और व्यापार	77
13. समाज सेवाएँ	82
14. उपसंहार	88

1. जीवन झांकी

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय

11 फरवरी 1968 को भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष पं० दीनदयाल जी उपाध्याय का मृत शरीर मुगलसराय स्टेशन के यार्ड में पड़ा पाया गया। इस षड्यंत्रकारी घटना का रहस्य अभी तक अज्ञात है। भविष्य में इसका रहस्य प्रकट होगा। रहस्य जो भी हो भारतीय प्रजातंत्र के राजनीतिक क्षितिज पर विचार, कार्य और प्रगति की महान आशाएँ लेकर जो अति दिव्य जीवन उभर कर सामने आ रहा था और अति प्राचीन भारतीय जीवन दर्शन के आधार पर युगानुरूप नूतन व्यवस्थाएँ, मौलिक चिन्तन और दार्शनिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण व्यावहारिक व्याख्याएँ प्रस्तुत कर रहा था वह सहसा ओझल हो गया। देश के गौरवशाली अतीत से भव्य भविष्य को जोड़ने वाले वर्तमान का महान शिल्पी चिर-निद्रा को प्राप्त हो गया। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक धार्मिक सभी क्षेत्रों में जन-साधारण के सुख-दुख में समरस होते हुए नेतृत्व का सूत्र धारण करने वाला महान् नेता दिवंगत हो गया। समस्याओं से भरे देश में सब प्रकार के समाधान निकाल सकने का विश्वास दिलाने वाला प्रकाश पुंज बुझ गया। सरल व्यवहार, सादा जीवन, उच्च विचार, प्रदीप्त अन्तःकरण और कर्मठता की मूर्ति सहसा विगलित हो गयी। इसलिए जनसंघ के वर्तमान अध्यक्ष पं० अटलबिहारी वाजपेयी ने कहा कि, सूर्य ढल गया, अब हमें तारों के प्रकाश में मार्ग खोजना होगा।” निस्संदेह पं० दीनदयाल जी इतने नम्र और सरल थे कि उनकी महानता पहिचान पाना कठिन था और वे इतने महान थे कि उनके आस-पास की हर वस्तु ध्येय समर्पित थी।

पं० दीनदयाल जी उपाध्याय का जन्म अश्विन मास वि० सं० 1973 में कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी तदनुसार 25 सितम्बर 1916 को हुआ था। उनके नाना पं० चुन्नीलाल शुक्ल जयपुर-अजमेर रेलवे लाइन पर स्थित ग्राम धनकिया में स्टेशन मास्टर थे। पं० दीनदयाल जी का जन्म नाना के घर इसी ग्राम में हुआ। उनके पिता का नाम श्री भगवती प्रसाद उपाध्याय था और वे उत्तर प्रदेश में जलेसर रोड स्टेशन पर रेलवे में स्टेशन मास्टर थे। आपके पितामह पं० हरीराम जी शास्त्री ज्योतिष शास्त्र में अपने समय के अति प्रसिद्ध विद्वान् माने जाते थे। बताया जाता है कि पं० हरीराम जी शास्त्री की मृत्यु पर आगरा और मथुरा में उनके सम्मानार्थ शोक हड़ताल भी हुई थी।

बाल्यकाल में जब उनकी आयु लगभग 7 वर्ष की ही थी कि उनके माता-पिता का देहान्त हो गया और उनका पालन-पोषण उनके मामा श्री राधारमण जी शुक्ल के घर में हुआ। विपत्तियों एवं प्रतिकूलता से जूझने का क्रम इस प्रकार बाल्यकाल से ही उनके लिए प्रारम्भ हो गया। बाल्यकाल में माता-पिता की स्नेह छाया से वंचित होने का दुःख सम्पूर्ण जीवन को जर्जर कर देने के लिए पर्याप्त होता है। दुर्भाग्य की इस चपेट में विरले ही उभर पाते हैं। कोमल आयु में स्वावलम्बन और कष्ट सहने की परीक्षा निस्संदेह कठोरता ही गिनी जावेगी। नन्हें बच्चे जब प्यार-दुलार से थपकियां पा रहे हो तब कोई एकाकी बालक सिसकियों को पीरक मुट्ठी में दुर्भाग्य को दबोचने का यत्न करे तो यह उसकी अपने प्रति कठोरता ही मानी जायेगी। सचमुच अपने प्रति कठोरता बरतने और कर्म में ध्यान एकाग्र करने का मंत्र पं० दीनदयाल जी ने बाल्य-काल में ही ग्रहण किया। विद्यार्जन की सीढियाँ सफलतापूर्वक चढ़ते गये और उन्होंने अजमेर बोर्ड की मेट्रिक की परीक्षा सीकर के कल्याण हाई-स्कूल से जब उत्तीर्ण की तो उन्हें स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। वे सम्पूर्ण बोर्ड में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए थे। एकाग्रता के साथ मन, बुद्धि को नियोजित कार्य में लगाने से भला कौन सी बाधा है जो जीती न जा सके और कौन सी परीक्षा है जिसमें सफल न हुआ जा सके। यही क्रम चल पड़ा। दो वर्ष

पश्चात् पिलानी (राजस्थान) से जब उन्होंने इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की तो वे प्रथम श्रेणी में ही थे। कानपुर के सनातन धर्म कालेज से बी०ए० की परीक्षा भी उन्होंने प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण की।

यही वह समय है जब कानपुर में सन् 1937 में उनका सम्पर्क राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से हो गया। उत्तर प्रदेश में संघ कार्य की नींव रखने वाले माननीय श्री भाऊराव जी देवरस से उनका परिचय उनके लिए राष्ट्र समर्पित जीवन जीने का व्रत अंगीकार करने का महामंगल क्षण बन गया। मेधा को लक्ष्य मिला और उनकी शक्तियाँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य में अधिकाधिक नियोजित होने लगीं।

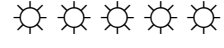
कानपुर के सनातन धर्म कालेज से बी०ए० उत्तीर्ण करने के बाद यद्यपि वे आगरा से अंग्रेजी साहित्य में एम०ए० करने के लिए सेण्ट जॉन कालेज में प्रविष्ट हुए, प्रथम वर्ष उन्होंने उत्तीर्ण भी किया किन्तु एम० ए० के द्वितीय वर्ष की परीक्षा न दे सके। इस समय वे आगरा में अपनी आजी और बहिन (सगी नहीं) के साथ रहते थे। बहिन का स्वास्थ्य खराब हो गया और उसकी सेवा-सुश्रूषा के लिए उन्हें उसे पहाड़ पर निसर्गोपचार हेतु ले जाना पड़। इसी कारण उन्होंने एम० ए० के द्वितीय वर्ष का अध्ययन स्थगित कर दिया।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक के नाते वे सन् 1942 में लखीमपुर जिले में नियुक्त हुए। शिक्षा कार्य में योगदान देने के लिए यदा-कदा वे वहाँ के एक हाई स्कूल में निःशुल्क अध्यापन का कार्य भी किया करते थे। उनकी अद्वितीय प्रतिभा, उच्च चरित्र और व्यवहार कुशलता से प्रभावित होकर स्कूल के प्रबन्धकों ने उन्हें मुख्याध्यापक का स्थान देने की इच्छा प्रकट की किन्तु श्री दीनदयाल जी ने उसे अमान्य कर दिया। तीन वर्ष के कार्यकाल में ही वे उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह प्रान्त प्रचारक बन गये। सन् 1951 में जनसंघ के निर्माण तक वे इसी क्षेत्र में इसी दायित्व से कार्य करते रहे।

इसी बीच पं० दीनदयाल जी ने न केवल संघ शाखाओं के विस्तार का संगठन कार्य किया वरन् संघ पर प्रतिबन्ध लगने के कालखण्ड में समाचार-पत्र तथा पुस्तक-प्रकाशन का सहित्यिक कार्य भी सफलतापूर्वक किया। सम्राट चन्द्रगुप्त, जगद्गुरु शंकराचार्य नामक दो पुस्तकें आपने लिखीं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रधर्म (मासिक) और पांचजन्य (साप्ताहिक) का भी सम्पादन किया। लखनऊ में राष्ट्रधर्म प्रकाशन लिमिटेड के संस्थापक भी आप बने।

भारत की राजनीति में कांग्रेस की राष्ट्र-विघातकी और अदूरदर्शी नीतियों के परिणामस्वरूप पाकिस्तान का निर्माण होने के बाद कांग्रेस में सत्ता-राजनीति की दौड़ प्रारम्भ हो गई। देश की आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, औद्योगिक सभी क्षेत्रों में गिरावट के आसार प्रकट होने लगे। ऐसे क्षणों में राजनीतिक क्षेत्र में नये नेतृत्व की आवश्यकता गूँज उठी। इसी महती आवश्यकता की पूर्ति में जब 1951 में स्व० डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में अखिल भारतीय जनसंघ के निर्माण का विचार किया जा रहा था तब पं० दीनदयाल जी उपाध्याय ने 21 सितम्बर 1951 को लखनऊ में प्रादेशिक सम्मेलन बुलाकर प्रदेश जनसंघ की स्थापना की। ठीक एक मास बाद 21 अक्टूबर 1951 को दिल्ली में डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में अखिल भारतीय जनसंघ की भी स्थापना हुई। 1952 में जनसंघ का प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन कानपुर में आयोजित किया गया। पं० दीनदयाल जी की संगठन- कुशलता से जनसंघ का यह पहला अधिवेशन ही अत्यन्त सफल हुआ। इसी अधिवेशन में पं० दीनदयाल जी उपाध्याय को अखिल भारतीय महामंत्री का पद सौंपा गया जिसे उन्होंने जनसंघ के कालीकट अधिवेशन सन् 1967 तक निभाया। कानपुर से कालीकट तक जनसंघ के शीर्ष स्थान पर डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, आचार्य रघुवीर जैसे अखिल भारतीय विद्वान् विराजमान हुए किन्तु दुर्भाग्य से अल्पकाल में वे छिन गये। पं० दीनदयाल जी उपाध्याय ही ऐसे व्यक्ति थे जो इस रिक्तता के समय आशा और विश्वास के ज्योति-स्तम्भ बनकर मार्गदर्शन का दायित्व निभाते रहे। कश्मीर का आन्दोलन हो या किसान मजदूरों को मोर्चा, पंचवर्षीय योजना हो या सामाजिक गुथी, सभी स्थानों एवं कार्यो

में पं० दीनदयाल जी का मार्गदर्शन देश को प्राप्त होता रहा। पं० दीनदयाल जी ने देश के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों के लिए गम्भीर सारयुक्त विचार-मन्थन किया। इस सब में भी उनकी विशेषता यह थी कि वे तात्कालिक और छोटे से विषय को भी एक स्थायी सैद्धान्तिक अधिष्ठान देकर लिखा-बोला करते थे।



2. अर्थ—चिन्तन

घर—गृहस्थी के चक्र में फंसे हुए, किसी सामान्य व्यक्ति से जब आप देश, धर्म, सहित्य आदि की चर्चा करें, तो उसके मुख से अनायास ही यह लोकोक्ति सुनने को मिलती है।

भूल गये राग—रंग, भूल गये छकड़ी।

तीन चीज याद रही, नोन तेल लकड़ी।।

आज के समाज का यह सही चित्रण है, जिसमें बहुजन समाज नोन, तेल, लकड़ी की चिन्ता में ही सुबह से शाम करते हुए दिन, महीने और वर्ष बिताता हुआ अपने जीवन की घड़ियाँ काट जाता है। जीवन के शेष प्रश्न उसे सामने कभी प्रमुख रूप से आत ही नहीं। आये भी तो वह उन्हें द्वितीय स्थान देता है। 'आधी पोटोबा मग विठोबा' की मराठी उक्ति के अनुसार पहिले भोजन और फिर भजन की चिन्ता करता है। और जब भोजन की चिन्ता में ही सब समय और शक्ति लग जाती है तो भजन के लिए अवकाश ही कहाँ बचता है।

जन साधारण ही नहीं तो समाज के अग्रणी एवं विचारकों के भी चिन्तन का सही प्रमुख विषय रह गया है। 15 अगस्त 1947 तक देश के सभी आन्दोलनों एवं प्रयासों का हेतु था स्वतंत्रता की प्राप्ति। स्वदेशी, खादी और ग्रामोद्योग, नमक और जंगल—सत्याग्रह, कर—बन्दी और लगानबन्दी जैसे आन्दोलन, तिलक करोड़ फण्ड अथवा पैसा—फण्ड के आधार पर स्थापित उद्योग, कपड़े और चीनी की मिलों की स्थापना, संरक्षण और अवमूल्यन आदि के प्रश्नों की ओर देखने का हमारा दृष्टिकोण आर्थिक न हो कर राजनीतिक था। इनके सहारे हम स्वतंत्रता—संग्राम को बल देना चाहते थे। किन्तु स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद हमारे दृष्टिकोण में अन्तर आया है। अब हम प्रत्येक प्रश्न को आर्थिक दृष्टिकोण से देखते हैं। देश की आर्थिक समृद्धि अब हमारा लक्ष्य हो गया है। राजनीतिक दलों के कार्यक्रम एवं शासन की योजनाएँ इसी उद्देश्य से बनाई जा रही हैं। हमारी सम्पूर्ण शक्ति इसी एक प्रश्न पर केन्द्रित है।

साध्य – साधन विवेक

आन्दोलनात्मक दृष्टि से इस केन्द्रीकरण के पक्ष में चाहे जो तर्क उपस्थित किये जायें, किन्तु इससे मानव—जीवन की वास्तविकता, उसके उद्देश्य और हेतु एवं उच्चतम विकास की सीमाएँ आदि के सम्बन्ध में एक एकांगी तथा विकृत दृष्टिकोण का प्रसार बड़ी तेजी के साथ होता जा रहा है। साध्य और साधन का विवेक समाप्त हो रहा है। अर्थोत्पादन जीवन का आवश्यक आधार ही नहीं, सम्पूर्ण जीवन बन गया है। आर्थिक विकास के हेतु धन प्राप्त करने के लिए हम अपनी सेना को भंग कर दें यह भी सुझाव दिये जाते हैं। सेना के अभाव में यदि हम अपनी स्वतंत्रता से हाथ धो बैठे तो फिर आर्थिक विकास किसका करेंगे? क्या हमें पराधीनता की स्वर्ण श्रृंखलाएँ स्वीकार होंगी? और फिर ये स्वर्ण—श्रृंखलाएँ लोहे की बेडियों में नहीं बदलेंगी यह कौन कह सकता है।

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य और उसमें अर्थ का स्थान निश्चित न होने के कारण हम उस मार्ग का भी ठीक निर्धारण नहीं कर पा रहे हैं जिस पर चल कर श्री और समृद्धि का उपभोग कर सकें। साध्य का पता लगे बिना साधन का निश्चय कैसे हो सकता है? हमारी परम्परा और संस्कृति हमें बताती है कि मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं और इच्छाओं का पिण्ड नहीं अपितु वह आध्यात्मिक तत्व है। जिसने भौतिक

शरीर धारण कर रखा है। अतः मन्दिर की सब प्रकार से चिन्ता करते हुए भी उसका मन्दिरत्व उसमें प्रतिष्ठित मूर्ति के कारण है तथा मूर्ति का श्रृंगार, धूप-दीप, नैवेद्य, अर्चन आदि उसमें आरोपित देवत्व के कारण हैं, इस तथ्य का विस्मरण नहीं होना चाहिए। यदि मन्दिर की रक्षा और निर्माण में मूर्ति को भूल गये तो हमारा सम्पूर्ण परिश्रम व्यर्थ ही जायेगा। किन्तु पश्चिम का अनुकरण कर हम अपने अर्थनैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना कर रहे हैं वहां जीवन के इस सर्वसंग्राही भाव के लिए कोई स्थान नहीं है। फलतः आज हमारे मन, वचन और कर्म में अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गया है। अन्तश्चेतना और बाह्यकर्म दो विरोधी दिशाओं में खींच रहे हैं। यह संघर्ष हमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति से आर्थिक समृद्धि की आज की योजनाओं को पूर्ण करने में भी जुटने नहीं देता। जो कुछ हम करते हैं वह अन्यमनस्क भाव से, और जब हमें अपने प्रयास सफल होते हुए नहीं दिखते तो मन में एक विफलता, आत्मज्ञान और आत्मविश्वासहीनता का भाव उत्पन्न होता है। इस भाव को हम प्रचारतन्त्र से, वास्तविकता से आंखें मूंदकर, दूसरों को अपनी असफलता के लिए दोषी ठहराकर, अवास्तविक समस्याओं और संकटों का भूत खड़ा करके तथा हवाई आदर्शों और भविष्य की अधिकाधिक स्वर्णिम कल्पनाजनित आशाओं से दबाने का प्रयत्न करते हैं। फलतः हमारा मानस अधिकाधिक उद्विग्न होता जाता है; हम यथार्थ की भूमि से दूर हटते जा रहे हैं। इस गुत्थी को सुलझाये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे।

पश्चिम के अर्थशास्त्र की अनुकूलता

जीवन के विभिन्न आदर्शों के कारण ही नहीं, देश और काल की भिन्न परिस्थितियों के कारण भी हमारे आर्थिक विकास का मार्ग पश्चिम से भिन्न होना चाहिए। किन्तु हम मार्शल और मार्क्स से बुरी तरह बंध गये हैं। अर्थ-शास्त्र के जिन नियमों की उन्होंने विवेचना की उन्हें हम शाश्वत मान कर चल रहे हैं। वे व्यवस्था-सापेक्ष हैं जो यह जानते हैं वे भी उनकी परिधि से बाहर नहीं निकल पाते। पश्चिम की आर्थिक समृद्धि ने उनकी अर्थोत्पादन-पद्धति के विषय में हमारे मन में निरपवाद रूप से श्रद्धा उत्पन्न कर दी है। पाश्चात्य अर्थशास्त्रज्ञों ने इतना विवेचनात्मक साहित्य उत्पन्न किया है कि उसके भार से हम सहज ही दब जाते हैं। हम उससे ऊपर उठ नहीं सकते। इस अर्थ-विज्ञान में अनेक ऐसे विवेचन भी हो सकते हैं जो देश-काल-व्यवस्था-निरपेक्ष हों तथा सबके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकें किन्तु खरे और खोटे की परख कोई पारखी ही कर सकता है। हमारी शिक्षा और दीक्षा इन पारखियों को उत्पन्न नहीं कर सकी है। हमारे अर्थशास्त्री पश्चिम के अर्थशास्त्र में पारंगत हो सकते हैं किन्तु वे उस अर्थशास्त्र के विकास में कोई ठोस योगदान नहीं दे सके हैं, क्योंकि भारत की अर्थ-व्यवस्था उस दृष्टि से उनके लिए न तो विचार-प्रवण हो सकती है और न प्रयोग-भूमि ही। स्वतन्त्र भारतीय अर्थशास्त्र के विकास की या तो उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी या उसमें उन्होंने स्वयं को असमर्थ पाया। गांधीवादी तथा सर्वोदयवादी विचारधाराओं में जिस अर्थशास्त्र की चर्चा की गई है वह इस आवश्यकता को पूर्ण नहीं कर पाता। वह अनिश्चित ही नहीं साम्प्रदायिक और आन्दोलन के माध्यम के रूप में जनता के सम्मुख आया है। पश्चिम की अर्थ-व्यवस्था की कुछ बुराईयों की ओर उसने भले ही सफल संकेत किया हो किन्तु भारत के भावी का विधान करने का सामर्थ्य उसमें नहीं है।

नई परिभाषाएँ

पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों में से बहुतों ने अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों की समस्याओं पर नया साहित्य प्रस्तुत किया है। संयुक्त राष्ट्र-संघ की अनेक एजेंसियसों और समितियों ने भी इस विषय में बहुत कुछ कार्य किया

है। उन सबके प्रति कृतज्ञ होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि उनका रोग-निदान और प्रस्तावित चिकित्सा सही है। यदि वे किन्हीं निहित स्वार्थों का प्रतिनिधित्व न भी करते हो तो भी वे अपने पूर्वाग्रहों तथा निष्ठाओं से मुक्त होकर पूर्णतः वस्तुनिष्ठ विवेचन कर सकेंगे यह मानना कठिन है। और फिर हमारे मानस की पृष्ठभूमि में हमारी श्रद्धाओं के आधार पर विचार कर सकना तो उनके लिए असम्भव-सा ही है। अतः इस साहित्य का उपयोग भी हमें सावधानी से ही करना होगा। हम यह भी नहीं भुला सकते कि पश्चिम के सबल राष्ट्र अपने हितों का संरक्षण करने के कलिए नयी-नयी उपाय-योजनायें कर रहे हैं। उपनिवेशवाद और राजनीतिक गुलामी जहाँ बीते युग की चीजें बनती जा रही हैं, वहाँ आर्थिक और वैचारिक आधार पर देशों को अपने अधीन बनाये रखने के गूढ़ उपाय अपनाये जा रहे हैं। फलतः शब्दों की परिभाषाएँ बदल रही हैं। पूंजी-विनियोग आर्थिक सहायता के नाम से पुकारा जाने लगा है, तो कुछ राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के चोले में अपने पग बढ़ाना उपयुक्त समझा है। यह भी सच है कि हम इन राष्ट्रों द्वारा बढ़ाये गये सहायता के प्रत्येक हाथ को शक की नजर से देखकर झटक नहीं सकते। ऐसा भी हो सकता है कि दोनों के हित पूरक हों और कभी सार्वभौम परिस्थितियाँ किसी पग विशेष के लिए विवश करें। किन्तु हमारा हित और अहित किसमें है इसका भी तो तब तक ज्ञान नहीं हो सकता जब तक हम अपनी व्यवस्था की भली-भांति मीमांसा न कर लें।

निहित स्वार्थ

पाश्चात्य अर्थशास्त्र के भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त भारत में ऐसे लोग भी बहुत बड़ी संख्या में हैं जिनके हित पाश्चात्य अर्थ-व्यवस्था एवं उत्पादन-प्रणाली से जुड़े हुए हैं। पिछले सौ वर्षों में जिस अर्थ-व्यवस्था का भारत में विकास हुआ उसने भारत और पश्चिम के औद्योगिक देशों की व्यवस्थाओं को एक दूसरे का पूरक बनाया। इसमें भारत के हितों का संरक्षण नहीं हुआ बल्कि उसका बराबर शोषण ही होता रहा। किन्तु इस शोषण की क्रिया में पाश्चात्य आर्थिक हितों ने भारत के कुछ वर्गों को भी अपने अभिकर्ता के रूप में साझीदार बना लिया। प्रारम्भ में व्यापारी और कमीशन एजेण्ट के रूप में और बाद में कुछ अंश में उद्योगपति, स्वतंत्र अथवा साझीदार के रूप में इनके हित सम्बन्ध विदेशी आर्थिक हितों के साथ बंध गए। इस वर्ग का देश के आर्थिक आय में उसका योगदान कम होते हुए भी वे समाज और देश के अर्थ-जीवन पर भारी प्रभाव रखते हैं। इस वर्ग अकांक्षाएँ निश्चित हैं। वे अधिकाधिक अपने विदेशी प्रतिद्वन्दियों का स्थान ग्रहण करना चाहते हैं। समाज के सर्व-सामान्य जीवन पर उसका क्या परिणाम होगा इसकी उन्हे चिन्ता नहीं। पाश्चात्य अर्थशास्त्र के भारतीय विद्वानों से उनका सहज ही समसंयोग मेल बैठ जाता है। भारत के सभी समाचार-पत्र, विशेष कर अंग्रेजी के, उनके प्रभाव क्षेत्र में हैं। ये सब मिलाकर जान या अनजान में ऐसा मायाजाल रच देते हैं कि साधारण जन उसमें से निकल ही नहीं पाता।

शासन की सीमाएँ

शासन का भी जैसा स्वरूप है वह इस इन्द्रजाल से नहीं बच पाया। प्रथम तो प्रशासन का पूरा ढाँचा हमें अंग्रेजों से विरासत में मिला। हम उसे न तो बदल सकते थे और न बदल पाये। जब कांग्रेस के नेताओं ने भी 1947 क बाद अपनी राष्ट्रीयता केवल खादी के कुरते और टोपी तक ही सीमित कर दी तथा शेष अपनी बातों में प्रगति के पश्चिमी मानदण्डों को ही उत्तरोत्तर स्वीकार कर लिया, तो देश के भृत्यवर्ग के लिए भी अपनी पुरानी विचार परम्पराओं से जकड़ा रहना आवश्यक हो गया। हमारे नियोजकों का आर्थिक चिन्तन इसी परिधि में चक्कर काटता रहता है। फिर विदेशी सहायता, विदेशी विशेषज्ञों की सम्मतियाँ तथा

विदेशी जीवन का चित्ताकर्षक बाह्य स्वरूप तथा थोड़ी अवधि में कुछ कर दिखाने की राजनीतिक आवश्यकताओं ने उनको जग-जीवन से दूर हटाकर उसकी समस्याओं का यथार्थ आकलन करने में अक्षम बना दिया। फलतः योजना के बाद योजनाएँ बनाई जा रही हैं, किन्तु हम जनसाधारण के जीवन में सुख और समाधान की सृष्टि करने में समर्थ नहीं हो सके हैं।

मौलिक विचार की आवश्यकता

अतः आवश्यकता है कि हम अपने जीवन दर्शन का विचार कर भारतीय अर्थ-व्यवस्था का मौलिक निरूपण करें तथा आज की समस्याओं को यथार्थ की कण्टकाकीर्ण, ऊबड़-खाबड़ किन्तु ठोस भूमि पर खड़े होकर सुलझायें। भारत के 'स्व' का साक्षात्कार किये बिना हम अपनी समस्याओं को सुलझा नहीं पायेंगे। यदि किसी क्षेत्र में संयोगवश थोड़ी बहुत सफलता मिल भी गई तो उसका परिणाम हमारे लिए हितकर नहीं होगा। हम परानुकरण की ओर अधिक प्रवृत्त होंगे। अपने स्वत्व और सामर्थ्य के विकास के स्थान पर परावलम्बन का भाव हमारे मन में घर कर जाएगा। आत्महीनता का यह भाव घुन की तरह राष्ट्र की जड़े खोखली कर देगा। इस प्रकार जर्जर-मूल राष्ट्र कभी झंझावातों में खड़ा नहीं रह सकता। यदि हमें देश का विकास करना है तो इस प्रश्न का अन्तर्मुख होकर विचार करना ही होगा। यदि उसमें कुछ देर भी लगे तो भी वह स्थायी एवं सर्वहितकर हल होगा।



3. भारतीय संस्कृति में अर्थ

आर्थिक प्रश्नों के समाधान के हेतु पश्चिम की ओर देखने का एक प्रमुख कारण यह भ्रममूलक धारणा है कि भारतीय संस्कृति और धर्म अध्यात्म प्रधान होने के कारण भौतिक जीवन की समस्याओं के प्रति उदासीन हैं। यह भ्रम दूषित प्रचार एवं आध्यात्मिकता का गलत अर्थ करने का परिणाम है। वास्तविकता तो यह है कि हमारे धर्म की व्याख्या भौतिकता का पूर्ण विचार करके चलती है। “यतोऽभ्युदयानिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः” अर्थात् जिससे ऐहिक और पारलौकिक उन्नति प्राप्त हो वह धर्म है। जिसने इस लोक को छोड़ दिया वह परलोक को नहीं बना सकेगा। भौतिकता और आध्यात्मिकता परस्पर विरोधी अथवा विलग भाव नहीं है। आध्यात्मिकता जीवन का एक दृष्टिकोण है जिससे हम सभी प्रश्नों की ओर देखते हैं। अध्यात्मवाद यदि विश्व की सही व्याख्या कर सकता है तो कोई कारण नहीं कि उसके द्वारा हम विश्व की समस्याओं का समाधानकारक हल न प्राप्त कर सकें।

धर्मस्य मूलमर्थः

भारत ने भौतिक जगत् का ही नहीं, अर्थ का भी विचार किया है। महर्षि चाणक्य ने कहा ‘सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलमर्थः।’ सुख धर्ममूलक है तो धर्म अर्थमूलक। अर्थ के बिना धर्म नहीं टिकता। यहाँ हम धर्म की व्यापक परिभाषा लेते हैं, वह संकुचित एवं आधुनिक भ्रमपूर्ण अर्थ नहीं जो धर्म को मत, मजहब या रिलीजन समझ लेता है। जिससे समाज की धारणा हो, जो ऐहिक और पारलौकिक उन्नति में सहायक हो, जिसके कारण मानव के कर्मों का निर्धारण होकर वह कर्तव्य की संज्ञा प्राप्त करले, जिससे व्यक्ति अपनी सब प्रकार की उन्नति करता हुआ समष्टि के अभ्युत्थान में सहायक हो सके, वह नियम-व्यवस्था और उसके मूल्य में निहित भाव धर्म है। यह धर्म अर्थ के अभाव में नहीं टिक सकता। कहा जाता है कि विश्वमित्र ने क्षुधा से अत्यन्त पीड़ित होने पर रात्रि के समय चोरी करके चाण्डाल के घर से कुत्ते का जूठा मांस खाया। उन्होंने धर्म की अनेक मर्यादाओं को भंग किया। आपात् धर्म की संज्ञा देकर शास्त्रकारों ने उनके इस व्यवहार को उचित ठहराया है। यदि अर्थ के अभाव की यह आपत्ति बराबर बनी रहे तो फिर आपत् धर्म अर्थात् चोरी ही धर्म बन जाय। और यदि यह आपत्ति समष्टिगत हो जाय अथवा समष्टि का बहुतांश इससे व्याप्त हो तो वे एक दूसरे की चोरी करके अपने आपत् धर्म का निर्वाह करेंगे। किन्तु जहाँ अभाव होगा वहाँ चोरी भी किसकी होगी? अर्थात् उस परिस्थिति में समाज नष्ट हो जायेगा।

अर्थ का प्रभाव

अर्थ का अभाव ही नहीं अर्थ का अत्यधिक प्रभाव भी धर्म का नाश करता है। यह भारत का अपना विशेष दृष्टिकोण है। पश्चिम के लोगों ने अर्थ के प्रभाव का विचार नहीं किया। अर्थ जब अपने में या उसके द्वारा प्राप्त पदार्थों में और उनसे प्राप्त भोग-विलास में संग (आसक्ति) उत्पन्न कर देता है तब अर्थ का प्रभाव कहा जाता है। जिसे केवल पैसे की ही धुन लगी रहे वह देश, धर्म, जीवन का सुख सब कुछ भूल जाता है। इसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य पौरुषविहीन होकर स्वयं और समाज के नाश का कारण बनता है। प्रथम प्रकार के प्रभाव में अर्थ की साधनता नष्ट होकर वह साध्य बन जाता है। द्वितीय में अर्थ धर्माचरण का साधन न होकर विषय-भोगों का साधन बन जाता है। विषय-तृष्णा की कोई मर्यादा न होने के कारण एक ओर तो

ऐस व्यक्ति के सम्मुख सदैव अर्थ का अभाव ही बना रहेगा दूसरे पौरुषहानि से उसकी अर्थोपार्जन की क्षमता भी कम होती जायेगी।

जब 'अर्थ' ही समाज के प्रत्येक व्यवहार और व्यक्ति की प्रतिष्ठा का मानदण्ड बन जाय तब भी अर्थ का प्रभाव हो जाता है। ऐसे समाज में 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति' की उक्ति चरितार्थ होती है। मान, सम्मान, राजनैतिक अधिकार तथा समाज में स्थान जब केवल धनवान् व्यक्ति को ही प्राप्त हों, वहाँ लोगों में धनपरायणता आ जाती है। जब समाज में सभी धनपरायण हो जायें, तो प्रत्येक कार्य के लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता होगी। धन का प्रभाव प्रत्येक के जीवन में अर्थ का अभाव उत्पन्न कर देता है।

जीवन के मानदण्ड

समाज से अर्थ के प्रभाव व अभाव दोनों को मिटाकर उसकी समुचित व्यवस्था करने को 'अर्थायाम' कहा गया है। आवश्यक है कि समाज के मानदण्ड ऐसे बनाये जायें कि हर वस्तु पैसे से न खरीदी जा सके। निश्चित ही यह कार्य केवल अर्थ-व्यवस्था के आधार पर नहीं किया जा सकता। देशके लिए लड़ने वाला सैनिक अपने जीवन की बाजी अर्थ की कामना से नहीं लगता। अर्थ का लालच उसे देशद्रोह सिखा सकता है, देशभक्ति नहीं। स्त्री के सतीत्व का अपना मूल्य है, उसे अर्थ की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। वैद्य रोगी की चिकित्सा के बदले में अर्थ किन मूल्यों के आधार पर ले सकेगा? अध्यापक विद्यादान का मूल्य नहीं लगा सकता। सरकारी कर्मचारी किस आधार पर एक फाइल को आगे सरकाने के लिए मूल्य लेगा? दुर्बल की रक्षा करने वाली पुलिस जब अपनी सेवाओं का मूल्य मांगे, तब या तो दुर्बल की रक्षा ही नहीं हो पायेगी अथवा शरीर-शक्ति में दुर्बल अपनी बुद्धि का उपयोग कर धूर्तता से धन कमाकर अपनी रक्षा का मूल्य चुकायेगा। श्रम का, शारीरिक और मानसिक, फिर उनका उपयोग चाहे दृश्य वस्तुओं के उत्पादन अथवा सेवाओं में हुआ हो, रुपये पैसे में मूल्य आंकना असम्भव है। फिर रुपया वह भी तो स्थिर मूल्य नहीं। श्रम और पारिश्रमिक दोनों का, अर्थशास्त्र के क्षेत्र में घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी, व्यवहार-जगत् के लिए सर्वमान्य एवं सर्वकष मूल्य-सिद्धान्त निश्चित करना न तो सरल है और न उपादेय ही। वास्तविकता तो यह है कि दोनों का मूल्यांकन पृथक् मानदण्डों से होता है। श्रम की प्रतिष्ठा उससे मिलने वाले अर्थ के कारण नहीं, अपितु उसके धर्मत्व से है। इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति को दिया गया पारिश्रमिक उसके द्वारा किए श्रम का प्रतिदान नहीं, बल्कि उसके योगक्षेम की व्यवस्था है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसीलिए कर्म और फल दोनों को अलग-अलग रखा गया है। कर्म लोकसंग्रहार्थ एवं ईश्वर भक्ति के रूप में करना है। श्री भगवान ने 9वें अध्याय में कहा है:

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

हे अर्जुन। तुम जो कुछ करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो देते हो और जो तप करते हो वह सब मुझे अर्पण कर दो। हमारे कर्म का लक्ष्य भगवदाराधन ही हो सकता है। ऐसे भक्तों की चिंता का भार स्वयं भगवान ने अपने ऊपर लिया है। उसी अध्याय में वे कहते हैं :

'अनन्याश्चिन्तयन्तौ मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वाहम्यहम्॥

जो अनन्य भाव से मेरी उपासना करते हैं उन नित्य कर्मयोगियों के योगक्षेम का मैं विचार करता हूँ।

गीतोक्त उक्त सिद्धान्त के अनुसार कर्म की मूल प्रेरणा अनियंत्रित प्रतियोगिता अथवा लाभ की वृत्ति नहीं हो सकती। पाश्चात्य अर्थशास्त्र की ये मान्यताएँ भारत के जीवन-दर्शन से मेल नहीं खातीं। यह कहने से काम नहीं चलेगा कि आज हमारे व्यवहार और दर्शन में भारी अन्तर है। वास्तव में तो समाज में आज भी अधिकांश व्यक्ति अपने व्यवसाय और वृत्ति में कर्तव्य भाव से ही लगे हुए हैं। जितना हम इस भाव से दूर हटते जाते हैं, उतना ही हमारी समस्याएँ विषम होती जाती हैं। हमें यदि अपने राष्ट्र का युगनिर्माण करना है तो उसकी प्रेरणा अपने जीवन-दर्शन से ही लेनी होगी।

पाश्चात्य अर्थशास्त्र की मान्यताओं की सीमाएँ

पाश्चात्य अर्थशास्त्र ने जिन सामान्य मान्यताओं के आधार पर अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह एकांगी तथा अपूर्ण है। उसकी मान्यता है कि :

1. 'राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मुख्यतः वैयक्तिक है जिसका अलग से कोई सामाजिक पहलू नहीं है।'
2. व्यक्तियों की निर्बाध और असीम प्रतिस्पर्धा ही सामाजिक जीवन की स्वाभाविक एवं सुरक्षापूर्ण नियामक है।
3. 'राजकीय एवं प्रथा द्वारा लागू नियमन सभी स्वाभाविक स्वतंत्रता का अतिक्रमण करते हैं।'*

उपर्युक्त मान्यताएँ सत्य से बहुत दूर हैं आज राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के अस्तित्व एवं आवश्यकता से कोई इन्कार नहीं कर सकता। यदि राष्ट्र की अपनी कोई इकाई है और वह केवल व्यक्तियों के समुच्चय से भिन्न जीवमान निकाय है तो उसकी अभिव्यक्ति जीवन के प्रत्येक व्यवहार में अपनी विशिष्टताओं के साथ होनी चाहिए। यदि इन अदृश्य विशेषताओं को हम आंख से ओझल कर भी दें तो भी आज प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के साथ अपने सभी आर्थिक सम्बन्धों का निर्धारण एक पृथक इकाई के आधार पर कर रहा है। संयुक्त-राष्ट्र के अनेक संघटन तथा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय इसके उदाहरण हैं।

व्यक्तियों की निर्बाध और असीम प्रतिस्पर्धा को न तो हम सामाजिक जीवन का नियामक मान सकते हैं और न सुरक्षापूर्ण ही। अर्थशास्त्र की यह मान्यता मात्स्य-न्याय का प्रतिपादन करने वाली है। हमने इस न्याय को कभी धर्मसंगत नहीं माना। पश्चिम में भी इसकी प्रतिक्रिया हुई है। किन्तु उन्होंने प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने के लिए वर्गों की भयंकर प्रतिस्पर्धा पैदा कर एक वर्ग के द्वारा दूसरे के विनाश का मार्ग, अपनाया है। प्रतिस्पर्धा का भाव केवल आर्थिक क्षेत्र में नहीं, अन्य क्षेत्रों में भी रह सकता है। अतः वर्ग-विनाश से प्रतिस्पर्धा समाप्त नहीं होगी। प्रतिस्पर्धी वर्ग दूसरे आधार पर उत्पन्न होकर मात्स्य न्याय को चलाते रहते हैं। उससे बचने का रास्ता तो धर्म के आधार पर सम्पूर्ण जीवन का नियमन ही है।

तीसरा सिद्धान्त यद्यपि मूलतः सत्य है किन्तु समाज में मानव की कुछ स्वतन्त्रताओं पर मर्यादाएँ आवश्यक होती हैं। अनियन्त्रित स्वतंत्रता केवल कल्पना की वस्तु है। हाँ यह नियन्त्रण जितना बाहरी होगा उतना ही मानव को कष्टदायक होगा। शिक्षा और संस्कार, दर्शन और आदर्शवाद व्यवहार में मनुष्य को आत्म-नियन्त्रण सिखाते हैं इसी प्रकार समाज की प्रथाएँ एक व्यवस्था बनाकर मानव का कार्य सरल एवं सुविधाजनक कर देती हैं। खेत काटने की परम्परानुसार निश्चित मजदूरी पाश्चात्य अर्थशास्त्र के माग और पूर्ति के नियमों का चाहे पालन न करती हो, किन्तु किसान और मजदूर दोनों के लिए सामाजिक ही नहीं, आर्थिक दृष्ट से भी लाभदायक है।

* जी० बी० जाठर -के० जी० जाठर : भारतीय अर्थशास्त्र, पृष्ठ 2

सर्वांगीण दृष्टिकोण की आवश्यकता

पाश्चात्य अर्थशास्त्र के जितने भी नियम हैं वे एक अर्थपरायण व्यक्ति (Economic man) की कल्पना करके चलते हैं। यह अर्थमापी व्यक्ति जीवन में कहीं नहीं मिलता। स्वयं जे० स्टु० मिल ने माना है कि "सम्भवतः कोई भी व्यावहारिक प्रश्न ऐस नहीं होता जिसका निर्णय आर्थिक सीमाओं के अन्दर ही दिया जा सके। अनेक आर्थिक प्रश्नों के महत्वपूर्ण राजनीतिक एवं नैतिक पहलू होते हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।" किसी समय विशेष पर मानव-व्यवहार जीवन के अनेक मूल्यों के आकर्षण-विकर्षण से निश्चित होता है। विभिन्न शास्त्रों के विद्वान् उसी एक व्यवहार का विश्लेषण अपने-अपने दृष्टिकोण से करते हैं। वे एक ऐसी स्थिति की कल्पना करके चलते हैं। जिसमें अन्य प्रवृत्तियों का अस्तित्व न हो। किन्तु उनके काल्पनिक जगत् और व्यवहार-जगत् में सदैव ही बहुत बड़ा अन्तर रहता है। उनके सिद्धान्त सही भी हों तो भी सीमित उपयोग के रहते हैं।

चार पुरुषार्थ

भारत ने इसीलिए मनुष्य का विभाजित विचार न करके पूर्णता के साथ विचार किया। मनुष्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का चार मोटे-मोटे भागों में वर्गीकरण करके उन सबकी संतृप्ति ही मानव का पुरुषार्थ बताया। ये चार पुरुषार्थ हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये चारों एक दूसरे के पूरक हैं। जो कर्म इन सबको प्राप्त करानेवाला हो वही श्रेष्ठ है। इनमें से किसी की भी अवहेलना करके चलने वाला व्यक्ति दुःख और अशान्ति का भागी बनता है।

इन चारों में से किसी एक को भी श्रेष्ठ या शेष का आधार समझना भी ठीक नहीं होगा। वैसे मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा है क्योंकि उसके प्राप्त करने के बाद कुछ भी प्राप्तव्य नहीं बचा रहता। किन्तु बिना धर्म, अर्थ और काम के मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं। महर्षि वेदव्यास ने कहा है "धर्मादर्थश्चकामश्च" अर्थात् धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। जहाँ कोई व्यवस्था ही नहीं वहाँ अर्थ और काम की प्राप्ति कैसे हो सकती है? किन्तु दूसरी ओर हमने इसके पूर्व विवेचन किया है कि किस प्रकार अर्थ के बिना धर्म नहीं टिक पाता। वास्तव में ये चारों पुरुषार्थ अन्योन्याश्रित हैं। एक से दूसरे की रक्षा और संवर्धन होता है। जिस प्रकार प्राण अन्न से बलवान् होते हैं तथा सबल प्राण अन्न को पचा सकते हैं वैसे ही धर्म से अर्थ और काम की तथा अर्थ और काम से धर्म की धारणा होती है।

चार विद्याएँ

इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त कराने वाली विद्याओं के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए भी कौटिल्य ने लिखा है : "आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या।" आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चार विद्याएँ हैं। इसके पूर्वाचार्यों ने इनमें से किसी एक, दो या तीन को ही विद्या माना किन्तु कौटिल्य ने चारों को मान्यता दी। उन्होंने लिखा : "चनस्र एवं विद्या इति कौटिल्यः। तामिर्धर्मार्थौयद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम्।"[†]

[†] इन विद्याओं की व्याख्या करते हुए लिखा है : सांख्य योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षकी। धर्माधर्मौ त्रय्यामर्थानर्थौ वार्तायां नयानयौदण्डनीत्याम्।" अर्थात् सम्पूर्ण दर्शन, योग, आदि उपासना शास्त्र तथा लोकायत साहित्य आन्वीक्षकी के अन्तर्गत आता है। त्रयी से धर्म और अधर्म का, वार्ता से अर्थ और उसके अभाव का तथा दण्डनीति से राजनीति और दुर्नीति का ज्ञान होता है।

अर्थात् कौटिल्य के मत से चारों ही विद्या हैं। जिनसे धर्म और अर्थ का ज्ञान होता है। वे वास्तव में विद्या हैं और उन्हें उस रूप में मानना चाहिए।

मनुष्य के जीवन का यह सर्वांगपूर्ण विचार ऐसी किसी भी अर्थ-रचना की कल्पना नहीं कर सकता, जिसमें नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना किये बिना ही मनुष्य को सुखी बनाया जा सके। इतना ही नहीं, कोई भी अर्थ-रचना अपनी सफलता और अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक इच्छा, उत्साह और सामर्थ्य का सृजन स्वयं नहीं कर सकती। अपनी ही गति से बराबर गतिमान अर्थ-व्यवस्था असम्भव है। उसे गति देने के लिए और बाद में भी कम से कम रुकावट के साथ सुचारुरूप से चलते हरने के लिए व्यक्ति और समाज के जीवन में प्रेरणा का स्रोत अर्थ के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र ढूँढ़ना होगा। राष्ट्र की राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ, प्रेरणाएँ अर्थ-रचना को बनाने और टिकाने में सहायक होती हैं। अतः हम समाज या व्यक्ति की समस्याओं एवं उसके लक्ष्यों का टुकड़ों में विचार नहीं कर सकते। यह हो सकता है कि समय विशेष पर हम किसी एक अंग को अधिक महत्व दें किन्तु हम शेष की भी अवहेलना नहीं कर सकते।



4.आधारभूत लक्ष्य

हम जब भारत के लोग आर्थिक कार्यक्रम का विचार करते हैं तो हमारे सम्मुख कुछ ऐसे निश्चित लक्ष्य एवं तथ्य आते हैं, जिन्हें हम बदलना नहीं चाहेंगे, बल्कि सब प्रकार से उनका संरक्षण एवं संवर्द्धन ही हमारे प्रयत्नों का उद्देश्य होना चाहिए। प्रथम, भारत ने बड़े प्रयत्नों के बाद अंग्रेजों से मुक्ति पाई है। यह किसी भी शर्त पर इस स्वतंत्रता को गंवाना नहीं चाहेंगे। हमारी योजनाओं का प्रथम लक्ष्य होना चाहिए, अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा का सामर्थ्य उत्पन्न करना। दूसरे, हमने अपने लिए एक प्रजातन्त्रीय ढाँचा चुना है। यदि आर्थिक समृद्धि का कोई भी कार्यक्रम हमारी प्रजातन्त्रीय पद्धति के मार्ग में बाधक होता है तो वह हमें स्वीकार नहीं होगा। तीसरे हमारे जीवन के कुछ सांस्कृतिक मूल्य हैं जो हमारे लिए तो राष्ट्रीय जीवन के कारण, परिणाम और सूचक हैं तथा विश्व के लिए भी अत्यन्त उपादेय हैं। विश्व को इस संस्कृति का ज्ञान कराना हमारा राष्ट्रीय जीवनोद्देश्य हो सकता है। इस संस्कृति को गंवाकर यदि हमने अर्थ कमाया भी तो वह निरर्थक और अनर्थकारी होगा।

हमारा आर्थिक कार्यक्रम यद्यपि इन मर्यादाओं के अन्तर्गत ही रहेगा फिर भी इनसे हमारे प्रयत्नों के मार्ग में कोई रुकावट नहीं। ये नियोजकों के पैर की बड़ियाँ नहीं बल्कि उनके मार्ग के सम्बल हैं। यदि इन तीनों भावनाओं का सही-सही उपयोग किया जाय, तो उनसे राष्ट्र के सामूहिक प्रयत्नों को भारी बल मिल सकता है। यदि कल की समृद्धि के लिए आज कष्ट उठाने हैं, तो उसके लिए मन की तैयारी इन भावनाओं के अतिरिक्त आर्थिक उद्देश्यों से नहीं की जा सकती।

सैनिक सामर्थ्य की अभिवृद्धि

राजनीतिक स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिए राष्ट्र को सैनिक दृष्टि से संरक्षणक्षम करना आवश्यक है। इस हेतु हम युद्ध-सामग्री के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रह सकते। यह निर्भरता एक ओर तो हमें दूसरों का कृपाकांक्षी बना देगी, दूसरी ओर युद्ध-सामग्री पैदा करने वाले राष्ट्रों के मन में, अपने इस सामग्री के बाजार बनाये रखने और बढ़ाने के लिए, सदैव ही युद्ध की विभीषिका निर्माण करने का मोह उत्पन्न करेगी। यदि भारत जैसा सामरिक महत्व की स्थिति वाला देश सैनिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो जाये तो विश्व की शान्ति को भंग करने की सम्भावनायें भी कम हो जायेंगी।

आत्मनिर्भरता

यह भी आवश्यक है कि हम आर्थिक क्षेत्र में भी आत्मनिर्भर बनें। यदि हमारे कार्यक्रमों की पूर्ति विदेशी सहायता पर निर्भर रही तो वह अवश्य ही हमारे ऊपर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से बन्धनकारक होगी। हम सहायता देने वाले देशों के आर्थिक प्रभाव-क्षेत्र में आ जायेंगे। अपनी आर्थिक योजनाओं की सफल-पूर्ति में सम्भव बाधाओं को बचाने की दृष्टि से हमें अनेक स्थलों पर मौन रहना पड़ेगा। जो राष्ट्र दूसरों पर निर्भर रहने की आदत डाल लेता है, उसका स्वाभिमान नष्ट हो जाता है। ऐसा स्वाभिमानशून्य राष्ट्र कभी अपनी स्वतन्त्रता की कीमत नहीं आंक सकता। यह भी निश्चित है कि बाहर का कोई भी देश हमें हमारे ढंग से उपभोग करने के लिए सहायता नहीं देगा। हमारी योजनाओं की वे छानबीन करेंगे और फिर हमें वे योजनाएँ बनानी पड़ेंगी जो चाहे हमारे अनुकूल न हों, किन्तु विदेशी सहायता के साथ मेल खा सकें।

प्रजातंत्र का पोषण

हमारी आर्थिक कार्यक्रम प्रजातंत्र का संरक्षक एवं पोषक होना चाहिए। राष्ट्रकी शासन—व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को सहभागी बनाना ही प्रजातंत्र का उद्देश्य है। इसके लिए चुनाव की प्रणाली साधन के रूप में अपनायी गयी है। चुनाव से प्रजातंत्र प्रतिनिधितंत्र का रूप धारण कर लेता है। पुराने यूनान के नगर—राज्यों के समान प्रजा द्वारा प्रत्यक्ष शासन एक विशाल क्षेत्र में सम्भव नहीं। अतः प्रतिनिधियों की आवश्यकता है। किन्तु शासन के बहुत से कार्य ऐसे हैं जिन्हें हम स्थानीय आधार पर कर सकते हैं। इन्हें प्रतिनिधियों द्वारा चलाई गई सत्ता को सौपने की आवश्यकता नहीं है। अतः प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण राजनीतिक प्रजातंत्र के लिए नितान्त आवश्यक है।

प्रतिनिधियों का निर्वाचन जितना निष्पक्ष और स्वतंत्रता से हो सकेगा उतना ही अधिक वे प्रजातंत्र को सार्थक कर सकेंगे। चूँकि मनुष्य का कोई भी निर्णय एकांगी नहीं होता इसलिए इस स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है कि वह आर्थिक दृष्टि से भी स्वतंत्र हो। राजनीतिक प्रजातंत्र बिना आर्थिक प्रजातंत्र के नहीं चल सकता। जो अर्थ की दृष्टि से स्वतंत्र है वही राजनीतिक दृष्टि से अपना मत स्वतंत्रतापूर्वक अभिव्यक्त कर सकेगा। भीष्म पितामह जैसे व्यक्ति को भी आर्थिक परतंत्रता के कारण अपने राजनीतिक विचारों पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। सभा में वे अन्याय का प्रतिकार नहीं कर पाये। उन्होंने स्वीकार किया कि पुरुष अर्थ का दास होता है (अर्थस्य पुरुषो दासः) अतः अर्थ की स्वतंत्रता आवश्यक है।

व्यक्ति के अधिकार

व्यक्ति के नाते जब हम आर्थिक स्वतंत्रता अथवा प्रजातंत्र का विचार करते हैं तो हमें उसके कुछ अधिकारों को मान्यता तथा उनके संरक्षण की गारंटी देनी होगी। (उत्पादन और उपभोग इन दो प्रमुख कर्मों के द्वारा व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र में अवतीर्ण होती है। यदि उसे उत्पादन और उपभोग इन दोनों की स्वतंत्रता प्राप्त हो गई तो हम कह सकते हैं कि वह आर्थिक स्वतंत्रता का उपभोग कर रहा है।) इनमें भी उत्पादन की स्वतंत्रता प्रमुख है क्योंकि उसके द्वारा ही व्यक्ति अपने उपभोग की पात्रता प्राप्त करता है। यदि वह सामूहिक उत्पादन में सहभागी न हो तो वह न तो राष्ट्र को अपना योगदान दे सकेगा और न उपभोग की क्षमता सिद्ध कर सकेगा। हाँ, यह आवश्यक है कि वह पूरे जीवन तथा सभी अवस्थाओं में उत्पादन नहीं कर सकता। बच्चा और बूढ़ा, रोगी और अपंग साधारणतः काम में नहीं लग सकता, फिर भी उन्हें उपभोग तो करना ही पड़ता है और कई बार तो उनका हिस्सा 'नार्मल' से अधिक ही होता है। अतः जहाँ हमें व्यक्ति को इस बात की आश्वस्ति देनी होगी कि वह हमेशा काम पा सकेगा वहाँ हमें इसकी भी व्यवस्था करनी होगी कि जिन अवस्थाओं में वह काम नहीं कर सकता उस समय भी उसे अपने उपभोग की स्वतंत्रता से वंचित न होना पड़े।

प्रत्येक को काम

'प्रत्येक को वोट' जैसे राजनीतिक प्रजातंत्र का निकर्ष है वैसे ही 'प्रत्येक को काम' यह आर्थिक प्रजातंत्र का मापदण्ड है। काम का यह अधिकार बेगार या दास—मजदूरी (slave Labour) उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कम्युनिस्ट देशों का 'वोट' प्रजातन्त्रीय अधिकार का उपभोग नहीं है। काम प्रथम तो जीविकोपार्जनीय हो तथा दूसरे व्यक्ति को उसे चुनने की स्वतंत्रता हो। यदि काम के बदले में राष्ट्रीय आय

का न्यायोचित भाग नहीं मिलता तो उस काम की गिनती बेगार में होगी। इस दृष्टि से न्यूनतम वेतन, न्यायोचित वितरण तथा किसी न किसी प्रकार की समाजिक सुरक्षा की व्यवस्था आवश्यक हो जाती है।

मर्यादाएँ

उत्पादन और उपभोग की अमर्यादित स्वतन्त्रताओं की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि एक व्यक्ति द्वारा उत्पादन की स्वतन्त्रता दूसरे के मार्ग में बाधक होती है तो वह नहीं दी जा सकती। एक बड़े कारखाने का मालिक यद्यपि स्वयं उत्पादन की स्वतन्त्रता का उपभोग करता है किन्तु छोटे-छोटे उद्योगों को समाप्त कर उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण करता है। फिर कई बार उसके कारखाने में काम करने वाले मजदूरों की स्वतन्त्रता भी बहुत ही सीमित हो जाती है। अतः नियमन आवश्यक है। हमें इस बात का भी विचार करना होगा कि एक ही उत्पादन की स्वतन्त्रता दूसरे की उपभोग की स्वतन्त्रता को समाप्त न कर दे। खाद्य में मिलावट उत्पादन की स्वतन्त्रता के नाम पर नहीं की जा सकती। यह, जो शुद्ध खाद्य चाहता है, उसकी स्वतन्त्रता के प्रतिकूल है।

कहा जाता है कि स्वतन्त्र एवं प्रतिस्पर्धीगण व्यक्ति को उपभोग की स्वतन्त्रता प्रदान करता है इसके अनुसार जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को खरीदता है तो वह आर्थिक क्षेत्र में अपने मताधिकार का प्रयोग करता है। इस प्रकार वरण के द्वारा उपभोक्ता उत्पादकों में से अपना प्रतिनिधि चुन कर अर्थ-व्यवस्था की दिशा और गति निश्चित करता है। यह तर्क व्यवहार में पूरा नहीं उतरता। प्रारम्भ में उपभोक्ता किसी वस्तु का वरण करके उसके उत्पादक को अवश्य ही उसकी योग्यता और कुशलता, किफायतसारी और बढ़िया माल पैदा करने की क्षमता के लिए पुरस्कृत करता है। किन्तु जिनको वह अपना मत नहीं देता वे आर्थिक क्षेत्र से धीरे-धीरे हट जाते हैं। विरोधियों के समाप्त होने पर जब एक या कुछ उत्पादकों का उस क्षेत्र में एकाधिपत्य हो जाता है तो वे उपभोक्ता से उसके प्रजातन्त्रीय अधिकार को छीन लेते हैं। फिर मूल्य मांग और पूर्ति के नियमों से निश्चित न होकर उत्पादकों की अपनी इच्छा और योजना से होते हैं। आर्थिक क्षेत्र में यह एक प्रकार की डिक्टेटरशिप है। प्राप्त शक्ति तथा प्रचार तन्त्र के सहारे दोनों ही सामान्य जन को उसके अधिकार से वंचित रखते हैं। एतदर्थ आवश्यक है कि उत्पादन के सामर्थ्य की मर्यादाएँ स्थापित की जायें, जो कि विकेन्द्रीकरण से ही सम्भव हैं। केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, आर्थिक क्षेत्र में भी विकेन्द्रीकरण चाहिए।

अर्द्ध बेकारी

जैसे बेगार हमारी दृष्टि में काम नहीं है, वैसे ही व्यक्ति के द्वारा काम में लगे रहते हुए भी अपनी शक्ति पर उत्पादन न कर सकना भी काम नहीं। अण्डर-एम्प्लायमेण्ट भी एक प्रकार की बेकारी है। भारत जैसे देश के लिए जहाँ श्रम ही हमारी सबसे बड़ी पूंजी है, श्रम का सामर्थ्यानुसार अनुपयोग घातक है। अतः विकेन्द्रीकरण के साथ हमें इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि राष्ट्र के उत्पादन में व्यक्ति अपना पूर्ण योगदान दे सके। बिना इसके न्यूनतम स्तर और सामाजिक सुरक्षाओं की गारण्टी के द्वारा उपभोग की स्वतन्त्रता बेमानी हो जायेगी। ये व्यवस्थाएँ मौद्रिक अवमूल्यन के कारण मनुष्य को अपेक्षित स्तर प्रदान नहीं कर सकेंगी।

विकेन्द्रीकरण

जैसे एक स्थान पर आर्थिक अथवा राजनैतिक सामर्थ्य का केन्द्रीकरण प्रजातन्त्र के विरुद्ध है वैसे ही एक ही व्यक्ति या संस्था के पास राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक शक्ति का केन्द्रीकरण लोकतन्त्र के मार्ग में बाधक है। साधारणतया तो जब किसी भी एक क्षेत्र की शक्ति केन्द्रित हो जाती है तो केन्द्रस्थ व्यक्ति प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से अन्य क्षेत्रों की शक्ति भी अपने हाथ में लेने का प्रयास करते हैं। इसमें से ही खिलाफत और कम्युनिस्टों की तानाशाही सरकारें पैदा हुईं। यद्यपि मनुष्य का जीवन एक है और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ एक दूसरे की पूरक हैं फिर भी उन प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले निकाय अलग-अलग रहने चाहिए। साधारणतया राज्य की विभिन्न इकाईयों को प्रशासन के क्षेत्र से हटकर अर्थ के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करना चाहिए। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था पहिले आर्थिक क्षेत्र पर आधिपत्य जमाकर फिर परोक्ष रूप से राज्य पर अधिकार करती है तो समाजवाद राज्य को ही सम्पूर्ण उत्पादन के साधनों का स्वामी बना देती है। दोनों व्यवस्थाएं व्यक्ति के प्रजातन्त्रीय अधिकार एवं उसके स्वस्थ विकास के प्रतिकूल हैं। अतः हमें विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ शक्तियों के विभक्तीकरण का भी विचार करना पड़ेगा।

भारतीय संस्कृति के मूल्यों का अधिक विवेचन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। इतना ही कहा जा सकता है कि उसने मानव-व्यवहार की आधारशिला आत्मीयता मानी है। कुटुम्ब से लेकर सम्पूर्ण विश्व तक इस सर्वात्मैक्य की भावना की व्यावहारिक मर्यादाएँ रखी हैं। जिस व्यवस्था में मानव-मानव के बीच का व्यवहार, उसकी अपनी स्थिति के अनुसार कृत्रिम न होकर आत्मीयता के आधार पर हो सके, वही हमारे लिए उपयुक्त होगी। केन्द्रित व्यवस्थाएं मानव को मानव न मानकर उससे एक टाइप के साथ व्यवहार करती हैं। उनमें मानव की विविधताओं, और विशेषता के लिए कोई स्थान नहीं। फलतः वे उसे ऊँचा उठाने के स्थान पर एक मशीन का पुर्जा मात्र बना देती हैं। उसका अपना व्यक्तित्व मारा जाता है। अतः विकेन्द्रकरण हमारी संस्कृति के भी अनुकूल है। इस व्यवस्था में व्यक्ति व्यवहार करता है। निश्चित ही इसमें मानव-सम्बन्धों और मानव के सुधार और विकास की बहुत गुंजाइश है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय सुरक्षा, पूर्ण रोजगारी, न्यूनतम उपयोग की आश्वस्ति तथा विकेन्द्रीकरण हमारे आर्थिक कार्यक्रम के आधारभूत आवश्यक लक्ष्य हो सकते हैं।



5. प्राथमिकताएँ

जब भारत की आर्थिक अवस्था की ओर हम देखते हैं तो हमारे सम्मुख अनेक तथ्य आते हैं। भारत की राष्ट्रीय आय प्रति व्यक्ति 1956-57[‡] में चालू मूल्यों पर 294.3 रुपया आंकी गई है। 1948-49[§] के मूल्यों पर वह केवल 284 रुपया रहती है। जब हम इस अंक की तुलना विश्व के दूसरे देशों की प्रति-व्यक्ति आय राष्ट्रीय आय से करते हैं तो भारी अन्तर मिलता है। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका, ब्रिटेन (U.K.) कनाडा और जापान के लिए ये आंकड़े^{**} क्रमशः 8784 रु०, 4057 रु०, 6056 रु० तथा 922 रु० हैं। इस तालिका में भारत सबसे नीचे आता है। किन्तु हम इन आंकड़ों से यदि कोई अनुपातिक निष्कर्ष निकालेंगे तो भूल कर जायेंगे। राष्ट्रीय आय जिन सिद्धान्तों पर कूती जाती है वे भारत में पूरी तरह लागू नहीं होते। भारत में ऐसा बहुत-सा उत्पादन है जो मुद्राक्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता। हमारे यहाँ व्यापक पैमाने पर हिसाब-किताब रखने की और वह भी राष्ट्रीय आय कूतने के लिए जो उपयोगी हो उस प्रकार की पद्धति नहीं है। आंकड़े इकट्ठा करने और उनका सार्वदेशिक आधार पर विवेचन करने में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। हम संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि देश में निर्धनता व्यापक पैमाने पर है जिसे दूर करना चाहिए।

उत्पादन वृद्धि

गरीबी को दूर करने के लिए प्रथम आवश्यकता है देश का उत्पादन बढ़ाने की। साथ ही हमें यह भी देखना होगा कि उत्पादन का समाज में समतर वितरण हो सके जिससे जो आज गरीब हैं वे सघनता का अनुभव कर सकें। साधारणतया आर्थिक उत्पादन प्रकृति और मनुष्य के सम्मिलित प्रयत्नों का परिणाम होता है। राष्ट्रीय दृष्टि से मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि प्रकृति-प्रदत्त साधनों का विधायन इस प्रकार कर सकें कि हमारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो जायें। अतः उत्पादन के पूर्व हमें आवश्यकताओं का विचार करना होगा। यदि हमारी आवश्यकताएँ बदल जायें तो हमें उत्पादन भी बदलना पड़ेगा। भारत की सबसे बड़ी समस्या यही है कि हमारी आवश्यकताएँ इतनी तेजी से बढ़ और बदल रही हैं कि उत्पादन उनके साथ कदम नहीं मिला पाता। इस अन्तर का कारण जहाँ एक ओर बढ़ती हुई जनसंख्या तथा हमारा तेजी के साथ बढ़ता हुआ रहन-सहन का तरीका है, वहाँ दूसरी ओर उत्पादन-प्रक्रिया और अर्थ-व्यवस्था की गतिशून्यता भी है। जिन वस्तुओं को हम परम्परागत पैदा करते आ रहे हैं, उनकी हमें आज आवश्यकता नहीं और जिनकी हमें आवश्यकता है उन्हें हम पैदा नहीं कर पा रहे। भारतीय जीवन-पद्धति से अरुचि तथा परानुकरणशील एवं स्वाभिमानशून्य दृष्टिकोण का यह परिणाम है। देश-भक्ति और संस्कृति-निष्ठा के इस आर्थिक पहलू को हम आँख से ओझल नहीं कर सकते।

जनसंख्या की वृद्धि

जनसंख्या की वृद्धि का भी विचार करना होगा। उस वृद्धि को रोक दिया जाय और वह भी सन्तति निरोध के कृत्रिम उपयों से यही एकमात्र उपाय पश्चिम के विद्वान सुझाते हैं। शासन इसी का अवलम्बन कर

[‡] 1969-70 : 589.3

[§] 1960-61 : 339.4

^{**} 26835, 10883, 16852, 8415

रहा है। यह समस्या का समाधान नहीं। फिर इससे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में तथा दूरगामी क्या-क्या परिणाम होंगे इनका भी हमें गम्भीरता से विचार कर लेना चाहिए। जनसंख्या की वृद्धि का यह व्यापक भय क्या हमारी जीवन से आस्था समाप्त नहीं कर देगा? जीवन से एक बार रस उठ गया कि फिर मानव प्रयत्नों की प्रेरणा ही नष्ट हो जायेगी। इन उपायों का व्यापक रूप से अवलम्बन सरल नहीं और उनकी सफलता भी, जिन वर्गों में यह विशेषकर वांछित है, सन्देहास्पद है। इसके विपरीत यदि आर्थिक प्रगति एवं सामाजिक सुरक्षा के आधार पर मानव को निश्चिन्तता प्रदान की जाय तो वह अधिक फलदाई होगी।^{††}

उपभोग वस्तुओं का आधिक्य

उत्पादन मुख्यतया दो प्रकार की वस्तुओं का होता है। 1. उपभोग्य वस्तुएँ तथा 2. उत्पादन वस्तुएँ अर्थात् वे पदार्थ तथा वस्तुएँ, जिनका मनुष्य उपयोग न करके उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में काम में लाता हो। क्योंकि मानव की सभी आर्थिक क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य उपभोग्य वस्तुओं की प्राप्ति है, जितनी अधिक मात्रा में तथा कम शक्ति खर्च करके वह इन्हें प्राप्त कर सकेगा, उतना ही अच्छा रहेगा। यदि किसी अर्थ-व्यवस्था में उपभोग-वस्तुओं के लिए आवश्यकता से ज्यादा उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन हो तो वह मनुष्य को सुख नहीं दे पायेगी। पश्चिम ने वह उत्पादन प्रणाली अपनाई है, जिसमें उपभोग की वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए अनेक उत्पादन वस्तुओं की आवश्यकता होती है। यह तो सच है कि एक बार यह लम्बा वृत्त पूरा हो जाय तो अपेक्षाकृत कम प्रयास से अधिक उपभोग्य वस्तुओं की प्राप्ति हो सकेगी। किन्तु इस मार्ग को तय करने में पश्चिम को सदियों लगीं, और उसे करोड़ों मानवों से श्रम और शक्ति का शोषण करने का अवसल मिल गया। तिस पर भी इस प्रणाली ने सम्पत्ति-उत्पादन के अतिरिक्त मानव-सम्बन्धों की तथा वितरण की ऐसी समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं कि जिनका हल करने के प्रयास में मानव अपने व्यक्तित्व को ही गंवा बैठा है। हमें अभी **optimum level** ढूँढना है, जहाँ उत्पादन वस्तुएँ उतनी ही लगेँ जितनी कि नितान्त आवश्यक हों। टेढ़ी-मेढ़ी प्रक्रिया को छोड़ना होगा। भारत में इस प्रक्रिया को अपनाने के कारण उत्पादन और उपभोग की आवश्यकताओं में और भी अन्तर बढ़ गया है।^{†††}

उत्पादन की सीमा

जब हम समाज की आवश्यकताओं का विचार करते हैं तो ऐसी कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती जिसके आगे समाज की इच्छाएँ और आवश्यकताएँ न बढ़ें और इसलिए अनेक प्रकार का एवं किसी भी मात्रा तक उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। किन्तु हमें निम्न बातों का ध्यान रखना होगा –

1. प्रकृति के जिन साधनों का विधायन करके हम नई-नई चीजें निर्माण करते हैं वे सीमित हैं। यद्यपि मनुष्य अपनी बुद्धि से एक ही वस्तु को प्राप्त करने के एकाधिक साधन खोजता जा रहा है। फिर भी यह बुद्धिमानी नहीं होगी कि हम बेतहाशा और बिना विचारे उन्हें खर्च करते जायें।

^{††} प्राचीन शास्त्रकारों ने भी समाज की असामान्य वृद्धि से उत्पन्न समस्याओं का विचार किया है। “जाति रूपी वृक्ष अनभीष्ट अंश को उत्पन्न न होने देकर और उत्पन्न हुए अनभीष्ट अंश को निकालकर उसको अवपात से बचाये रखना जातीय लवन कहा गया है।” इसके तीन मुख्य अंग माने गये हैं।

1- बालब्रह्मचर्य 2-वानप्रस्थ प्रथा 3- युद्ध।

^{†††} अर्थ को मुख्य और गौण दो रूपों में बाँटकर पुराने शास्त्रकारों ने बताया है कि गौण-अर्थ मुख्य अर्थ से कभी प्रबल और अधिक नहीं होना चाहिए। यह अर्थ के प्रभाव का द्योतक है मुद्रा तथा उत्पादक वस्तुएँ गौण-अर्थ के अन्तर्गत आती हैं।

2. प्रकृति में एक **Equilibrium** है। नित्य परिवर्तनशील एवं गतिशील जगत् में भी इसी के कारण विभिन्न शक्तियों, क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं के बीच सन्तुलन बना है। प्रकृति अपनी पद्धति से क्षय की पूर्ति करती रहती है। मानव यह मानकर कि सम्पूर्ण दुनिया उसके लिए ही बनाई गयी है, इतनी तेजी से उनका विनाश कर रहा है कि न तो प्रकृति क्षति-पूर्ति ही कर पाती है और न उसका सन्तुलन ही टिक पाता है। प्रत्येक क्रिया के सर्वांगीण परिणामों का विचार करने लायक ज्ञान का अभी भी मानव के पास अभाव है। और जहाँ ज्ञान है भी वहाँ उन परिणामों को रोक सकने का सामर्थ्य तो बहुत ही कम है। तेजी से जंगलों को काटने, नहरों से भूमि का सेम (**Waterlogging**) के कारण अनुपजाऊ होना आदि कुछ उदाहरण हैं।
3. उत्पादन की प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए कि पैदा माल की बराबर खपत होती रहे। अर्थात् साधारण जन की क्रयशक्ति को बढ़ाने के साथ-साथ उत्पादन बढ़ा तो मन्दी और बेकारी की समस्याएँ उत्पन्न नहीं होंगी। सामाजिक सुरक्षा के नियम, प्रशासनिक नियंत्रण आदि रोग के उपचार हैं, स्वस्थ जीवन के नियम नहीं।

उपभोग की न्यूनतम मर्यादा

उपर्युक्त मर्यादाओं के अन्तर्गत उत्तरोत्तर बढ़ने के साथ ही हमें उत्पादन की निम्नतम अवस्था तथा भावी कार्यक्रम के लिए वरीयताओं का निर्णय भी करना होगा। मोटे तौर पर यह कह सकते हैं कि रोटी, कपड़ा, मकान, पढ़ाई और दवाई, ये पाँच ऐसी आवश्यकतायें हैं जो प्रत्येक व्यक्ति की पूरी होनी चाहिए। यदि किसी देश के जीवन-स्तर का भौतिक दृष्टि से हमें अन्दाजा लगाना है तो इसे प्रारम्भ का शून्य-बिन्दु मानकर चलना होगा। यदि समाज के किसी भी वर्ग को ये सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं तो हम उस समाज का जीवन-स्तर ऋण में मानकर चलेंगे।

खाद्य

इन पाँचों मौलिक आवश्यकताओं में भी 'खाद्य' एक ऐसी आवश्यकता है जिसके बिना प्राणिमात्र जीवित नहीं रह सकता। "अन्नं वै प्राणः" अन्न ही जीवन है। ऐसी कोई भी अर्थ-व्यवस्था जो पर्याप्त खाद्य की उपलब्धि नहीं करा सकती, टिक नहीं सकती। जो लोग खाद्योत्पादन में लगे हैं उन्हें भी खाद्य चाहिए। यह तभी सम्भव है जबकि खाद्योत्पादक अपनी आवश्यकता से अधिक पैदा करके अन्य लोगों के लिए कुछ बचा लें। साथ ही जो लोग खाद्योत्पादन के अतिरिक्त कामों में लगे हैं उनकी सेवाएँ ऐसी होनी चाहिए जिनकी आवश्यकता खाद्योत्पादकों को हो। इस प्रकार एक दूसरे की मांग को पूरा करते हुए व्यवस्था आगे बढ़ती है।

कृषि पदार्थ, दुग्ध, मांस, मछली, अण्डे आदि खाद्य के अन्तर्गत आते हैं। इन सब में कृषि ही मानव के खाद्य का मुख्य सहारा है। भारत के लिए यह विशेषकर लागू है। अतः हमारे सामने प्रमुख प्रश्न यही है कि किसान की उपज में से उसकी आवश्यकता से बचा हुआ अधिकाधिक अतिरिक्त खाद्य (**Surplus**) कैसे प्राप्त किया जाये। इसके तीन मार्ग हो सकते हैं :

1. खेती पर निर्भर लोगों की संख्या घटाकर।
2. सरकारी आदेश, भूधृति अथवा और विपणन, मौद्रिक एवं वित्तीय नीतियों के द्वारा किसान को अधपेट रखकर अधिकाधिक अतिरिक्त प्राप्त करना।
3. गल्ले की उपज बढ़ाकर।

कृषि पर भार

1951 की जनगणना के अनुसार 24.90 करोड़ व्यक्ति अर्थात् कुल जनसंख्या का 69.8 प्रतिशत कृषि के द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं। इनमें से 18 प्रतिशत कृषि श्रमिक एवं उनके आश्रित हैं। शेष में ऐसे कृषकों की संख्या भी काफी है जिनके पास अनुत्पादक जोतें हैं। ये सब जो कुछ पैदा करते हैं उसमें से अपनी आवश्यकताओं के बाद प्रायः कुछ भी नहीं बचा पाते हैं। इस दृष्टि से अन्य देशों के साथ तुलनात्मक आंकड़े उपयोगी होंगे।

प्रति 1000 व्यक्तियों में विभिन्न पेशों में लगे व्यक्ति

		भारत	सं0 राष्ट्र अमेरिका	ब्रिटेन
1.	कृषि, पशुपालन, वन एवं मत्स्य पालन	706	128	50
2.	खनन, विधायन और व्यापार	153	456	555
3.	अन्य उद्योग एवं सेवाएँ	141	416	395
		1000	1000	1000

यह निर्विवाद है कि अनुपातिक दृष्टि से भारत में बहुत बड़ी संख्या भूमि पर निर्भर है। पिछले बीस वर्षों में यह संख्या 66 प्रतिशत से बढ़कर 70 प्रतिशत हो गई है। यदि हम इस संख्या को कम कर सकें तो स्वाभाविकतः खाद्यान्न का विपणनीय अतिरेक (Marketable Surplus) बढ़ जायेगा। यदि यह संख्या कम हुई तो कृषि का अपखण्डन रुक जायेगा तथा विकास के लिए अधिक साधन जुटाये जा सकेंगे।

औद्योगीकरण और कृषि

कृषि पर निर्भर व्यक्तियों की संख्या घटाने का एक मात्र उपाय लोगों को उद्योगों एवं अन्य व्यवसायों में लगाना है। किन्तु जब इन्हें दूसरे उद्योगों में लगाया जाएगा तो शेष किसानों को न केवल इनके लिए बचाकर अन्न ही देना पड़ेगा बल्कि वह कच्चा माल भी तैयार करना होगा जिसके बल पर ये उद्योग चल सकें। यदि कल-कारखानों में लगे हुए व्यक्तियों की ये आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं हो पाईं तो फिर वे वहाँ काम नहीं कर सकेंगे बल्कि लौटकर खेती पर लग जायेंगे। अतः कुछ लोगों का मत है कि किसानों को प्रारम्भिक भार वहन करना चाहिए। जबरिया गल्ला वसूली, कच्चे और पक्के माल के दामों में (Tenancy) की ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे किसान अपना जीवन-स्तर उँचा उठाने की अपेक्षा अन्यो के लिए कृषि-सामग्री जुटाता और उन्हें आवश्यक बाजार प्रदान करता रहे। उद्योगों के ठीक-ठाक जम जाने के बाद विकासक्रम की दिशा निश्चित हो जाएगी और फिर किसान की भी दशा सुधारी जा सकेगी।

यह तर्क भ्रममूलक है। भारत एवं अन्य उपनिवेशों के किसानों ने इसकी व्यवस्था के आधार पर इंग्लैण्ड के उद्योग-धन्धे खड़े किये किन्तु उसका लाभ उन्हें आज तक नहीं हो पाया। इतना ही नहीं संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी जहाँ के हजारों में से 128 खेती पर लगे व्यक्ति इतना पैदा करते हैं कि केवल देश की आवश्यकता पूर्ण नहीं करते, अपितु निर्यात भी कर सकते हैं। किसानों को अपनी समृद्धि के लिए शासन की मूल्य-स्थिरीकरण आदि की नीतियों पर निर्भर रहना पड़ता है।

कृषि की आय-वृद्धि की आवश्यकता

भारत में यद्यपि खेती पर 69.8 प्रतिशत व्यक्ति निर्भर करते हैं। किन्तु उनका राष्ट्रीय आय को योगदान केवल 51 प्रतिशत है। प्रति व्यक्ति कृषि आय केवल 500 रु० आती है जबकि खानों और कारखानों में वह 1700 रु० है। यह अन्तर निश्चित ही उन मूल्य-नीतियों के कारण है जो किसान के हित में निर्धारित नहीं होती।

यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो कृषि-आय को बिना बढ़ाये उद्योगों को भी नहीं टिकाया जा सकता। किसान अपनी बचत के बदले में जितनी मात्रा में अधिक औद्योगिक वस्तुएँ खरीद सकेगा उतना ही अधिक लोगों को कृषीतर पेशों में काम मिल सकेगा। यह बात सत्य है कि भारत में कृषि पर निर्भर रहने वाले लोगों की इतनी भारी संख्या है कि उनकी सामान्य एवं नितान्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्रय-शक्ति जुटाने के लिए वे हर सम्भव उपाय से गल्ला बेचते हैं। यहाँ तक कि स्वयं कम खाकर भी बाजार से कपड़ा, तेल, हल आदि खरीदने के लिए गल्ला बेचते हैं। अतः जब गल्ला मंहगा हो जाता है तो वे कम गल्ला बेचने की आवश्यकता समझते हैं। तथा शेष को अपने खाने के लिए रख लेते हैं। जब बाजार में गल्ला कम आता है और वह मंहगा हो जाता है तो उद्योग-धन्धों में काम करने वालों को अपनी मजदूरी बढ़ानी होती है या अनुत्पादक इकाइयों को बन्द करना होता है। इस प्रकार एक दुश्चक्र चलता रहता है। फलतः यह मानकर चला जाता है कि किसान से अधिकाधिक गल्ला प्राप्त कर कल कारखानों को चालू रखा जाये। इस स्थिति में किसान न तो अपने जीवन-स्तर को ऋण से जन अवस्था में ला पाता है और न कृषि में सुधार करने के लिए कुछ बचा पाता है। समस्या का हल किसान की स्थिति का अनुचित लाभ उठाकर जबर्दस्ती उससे बचत कराना नहीं बल्कि उसके अन्दर अपने विकास के लिए बचत की इच्छा पैदा करना है। जब तक वह विकासोन्मुख नहीं होगा तब तक हम उत्तरोत्तर वृद्धिगत बाजार नहीं पैदा कर सकेंगे। बिना बाजार बढ़ाये उद्योग-धन्धे भी विकास की दिशा में बराबर आगे नहीं बढ़ सकेंगे।

कृषि उत्पादन की वृद्धि

खेती का विपणनीय अतिरेक (Marketable Surplus) प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है कृषि की पैदावार बढ़ाना। जब कृषक अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पन्न करेगा तथा उसको अपना जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के निमित्त औद्योगिक माल की आवश्यकता होगी तो कृषि और उद्योग दोनों एक दूसरे के पूरक हो सकेंगे। राष्ट्रीय दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो खेती की पैदावार बढ़ाना नितान्त आवश्यक है। विभाजन के उपरान्त भारत खाद्यान्न की दृष्टि से आत्मनिर्भर नहीं रहा। पिछले ग्यारह वर्षों से उसे भारी मात्रा में बाहर से अन्न मंगाना पड़ा है।

खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता

खाद्यान्न जैसे महत्व के विषय में पर-निर्भर होना हमारे लिए किसी भी समय संकट-उत्पन्न कर सकता है। राजनीतिक एवं अन्य पहलुओं को यदि हम छोड़ भी दें तो आर्थिक दृष्टि से भी हमें इस प्रश्न को सुलझाना होगा। कारण, जिन देशों से हम खाद्यान्न लेते हैं उन्हें वापिस देने के लिए हमारे पास कुछ नहीं है। अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और अर्जेंटीना ऐसे मुख्य देश हैं जो हमें गेहूँ दे सकते हैं तथा देते हैं। किन्तु हमारा और उनका व्यापार पूरक नहीं। हम जिन औद्योगीकरण की ओर बढ़ रहे हैं उसमें अपने यहाँ

का माल इन देशों में नहीं खपा पायेंगे। अभी तक हमने लड़ाई के समय जमा पौण्ड—पावना अथवा विभिन्न रूप से प्राप्त विदेशी ऋण एवं सहायता का लाभ उठाकर यह अन्न प्राप्त किया है। हमारा पौण्ड—पावना समाप्तप्राय है तथा विदेशी सहायता सदैव ही संदिग्ध रहती है, अतः हमें दृढ़ नींव पर खड़े होने की आवश्यकता है।

हम यदि मान भी लें कि विदेशों से किसी न किसी रूप में हम बराबर अन्न प्राप्त करते रहेंगे तथा उससे अपने कल—कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की उपजीविका की व्यवस्था कर सकेंगे तो भी भारत की समृद्धि का हमारा उद्देश्य पूरा नहीं होगा। भारत को बाहर बाजार ढूंढने के पहिले अपने घर के विशाल बाजार का विकास करना चाहिए। यह कृषि की उपज बढ़ाने से ही सम्भव हो सकेगा।

इस प्रकार हम 1—कृषि 2— उद्योग 3— वाणिज्य तथा 4— समाज—सेवाएं यह प्राथमिकताएँ निश्चित कर सकते हैं। किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि ये चारों एक दूसरे से इतनी सम्बद्ध हैं कि हम एक का विकास दूसरे की उपेक्षा करके नहीं कर सकते। हमारा विचार तौलनिक ही हो सकता है।



6. कृषि

खेती पर भार

कृषि की पैदावार बढ़ाने का जब हमारे सम्मुख प्रश्न आता है तो कृषि की आज की स्थिति एवं उसकी समस्याओं की ओर हमारा ध्यान जाता है। पैदावार एवं प्रति एकड़ भूमि की प्राप्ति दोनों ही दृष्टियों से भारत बहुत पीछे है। सन् 1951 की जनगणना के आधार पर प्रति व्यक्ति कर्षित क्षेत्र केवल 84 सेण्ट्स है। पिछले 30 वर्षों से इस दृष्टि से बराबर ह्रास हो रहा है।

प्रति व्यक्ति कर्षित भूमि

वर्ष	क्षेत्र (सेण्ट्स में)
1891	109
1901	103
1911	109
1921	111
1931	104
1941	94
1951	84
1961	2.6 हेक्टर

बढ़ी हुई जनसंख्या का अधिकाधिक भार भूमि पर ही पड़ता गया है। इस भार को कम करने की दृष्टि से सर्वप्रथम हमारा ध्यान उस भूमि की ओर जाता है, जिस पर अभी तक खेती नहीं होती। भारत का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 80.63 करोड़ एकड़ है। इसमें से केवल 71.95 एकड़ भूमि के उपयोग के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त है। 1955-56 में 12.54 एकड़ भूमि में जंगल, 9.64 एकड़ भूमि में चरागाह, कुंज तथा वृक्ष आदि, 5.97 करोड़ भूमि में एकड़ भूमि में बंजर तथा 31.98 एकड़ भूमि कृषि में थी। 11.82 करोड़ एकड़ भूमि ऐसी थी जो कृषि के लिए उपलब्ध नहीं थी। जो जमीन बंजर पड़ी है उसे खेती के उपयोग में लाया जा सकता है। किन्तु जब हम इन आंकड़ों को व्यावहारिक दृष्टि से विश्लेषण करते हैं तो अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। जिन क्षेत्रों में जमीन का जितना अधिक भार है वहाँ वहाँ भूमि उतनी ही कम उपलब्ध है। ऐसे स्थानों पर बंजर प्रायः मिलेंगे ही नहीं। केरल में प्रति व्यक्ति कर्षित भूमि केवल 59 सेण्ट्स है। वहाँ खेती योग्य बंजर भी केवल 473 हजार एकड़ है। जब राजस्थान में प्रति व्यक्ति कर्षित भूमि 2.07 एकड़ होने के बाद भी 19,46,9,000 एकड़ बंजर भूमि और उपलब्ध हो सकती है। अन्य प्रदेशों की स्थिति भी इसी प्रकार है। फिर बंजर जमीन को तोड़ने और खेती करने में परिश्रम और धन के व्यय का विचार करें तो प्रस्ताव का क्रियान्वयन इतना सरल नहीं रह जायेगा। जब हम बढ़ती हुई आबादी तथा विभिन्न प्रकार के अन्य कामों के लिए आवश्यक भूमि का विचार करते हैं तो अपने देश के कर्षित क्षेत्र को प्रति व्यक्ति बढ़ाने की सम्भावनाएँ और भी मर्यादित हो जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में हमारे सामने एक ही मार्ग रह जाता है और वह है घनी खेती द्वारा प्रति एकड़ उपज बढ़ाकर कुल उत्पादन में वृद्धि करना। कृषि-विकास के कार्यक्रम मुख्यतया इसी दृष्टि से आयोजित होने चाहिए।

द्विविध कार्यक्रम

कृषि-विकास का कार्यक्रम दो प्रकार का हो सकता है। 1- प्राविधिक (Technical) तथा 2- संस्थागत (Institutional) पहिले कार्यक्रम का सम्बन्ध खेती की पद्धति से है। किन साधनों का तथा किस मात्रा में उपयोग किया जाय इसका विचार करना होगा। दूसरे हमें भूधृति के नियमों में सुधार करना होगा, तथा कृषि के लिए आवश्यक साधनों को जुटाने तथा विपणन की व्यवस्था के लिए संस्थाएँ बनानी होंगी। हमें इस दृष्टि से एक समन्वित एवं सुनियोजित (Integrated) कार्यक्रम हाथ में लेना होगा। कृषि ही नहीं, उद्योग-धन्धों का भी इसके साथ विचार करना चाहिए।

खेती की पद्धति में सुधार

जहाँ तक खेती की पद्धति का सम्बन्ध है भारत के किसान ने परिस्थितियों के अनुरूप उपयुक्त पद्धति का विकास किया है। युगों से चली आई पद्धतियों को आज की उन प्रक्रियाओं के पक्ष में, जिन पर न तो पूरे-पूरे प्रयोग हुए हैं और न भारत की समसमान अवस्थाओं में उन प्रयोगों को किया गया है, एकाएक नहीं छोड़ देना चाहिए। भारत का किसान फसलों की अदल-बदल कर बुवाई, हरी खाद का प्रयोग, मलमूत्र के खाद को पका कर उपयोग करना, भूक्षरण रोकने के लिए मेंड़ बांधना तथा वृक्ष लगाना आदि अनेक विधियों को भली भाँति जानता है। उसने युगों से भूमि की उर्वरता को बनाये रखा है। हाँ पिछले दिनों में विभिन्न कारणों से वह अपने ज्ञान का पूरा उपयोग नहीं कर पाया।

अदेवमात्रिका कृषि

भारत की कृषि मुख्यतया इन्द्रदेव की कृपा पर निर्भर करती है। वर्षा का चार्ट ही भारत के किसान का कार्डियोग्रफ है। यद्यपि यहाँ वर्षा के महीने निश्चित बताना कठिन है और यदि ज्ञान भी हो जाय तो उसके अभाव की पूर्ति तथा आधिक्य का निराकरण करना कठिन है। अतः प्रारम्भ से हमारे भारतीय शासन का यह ध्येय रहा है कि वह सिंचाई की योग्य व्यवस्था करें। कृषि को 'अदेवमात्रिका' बनाने का शास्त्रों का आदेश है।

छोटी योजनाएँ

यद्यपि भारत ने अमेरिका की नकल करके सिंचाई के लिए बड़े-बड़े बांध बनाने का कार्यक्रम हाथ में लिया है, किन्तु सर्वतोमुखी दृष्टि से विचार किया जाये तो हमारे लिए छोट-छोटे सिंचाई के साधन अधिक उपयोगी हैं।

बड़े बांधों की योजनाएँ पूँजी-प्रधान हैं। भाखरा-नांगल, दामोदर घाटी परियोजना और हीराकुंड इन तीनों को लें तो उनके अनुमान बराबर बढ़ते जा रहे हैं। दूसरी ओर इनसे खाद्योत्पादन में भी छोटी योजनाओं की तुलना में कम लाभ हुआ है। जैसा कि निम्न तालिका से विदित होगा-

विभिन्न योजनाओं से कृषि उत्पादन में वृद्धि 1951-56

योजना	लक्ष्यों की प्रतिशत उपलब्धि	
	उत्पादन	व्यय
बड़ी सिंचाई योजनाएँ	47	92
छोटी सिंचाई योजनाएँ	91	63
भूमि पुनरुद्धार तथा विकास	77	75
खाद एवं उर्वरक	50	59
उन्नत बीज	55	56

बड़ी योजनाओं की सबसे बड़ी खराबी यह है कि वे थोड़े दिनों में भूमिगत जल की ऊँचाई बढ़ा कर खेतों और आबादी को नुकसान पहुँचा देती हैं। भूमि के क्षार भी तल पर आ जाते हैं जिससे जमीन बंजर, अनुपजाऊ हो जाती है। पीने का पानी भी अस्वास्थ्यकर हो जाता है। पानी के बहाव के प्राकृतिक मार्ग में बाधा डालकर तथा जमीन की सोखने की शक्ति को नष्ट करके वे थोड़ी सी भी वर्षा में आसपास के क्षेत्रों में बाढ़ की स्थिति पैदा कर देती हैं। पंजाब के भटिण्डा, फिरोजपुर, अमृतसर, गुरुदासपुर आदि तथा उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर, मिर्जापुर और गाजीपुर जिलों में सेम (Waterlogging) की समस्या विषम होती जा रही है। नहरों की तलें कांक्रीट की बनाई जायें यह भी सुझाव है। दोनों ही खर्चीली योजनाएँ हैं। अतः हमारे देश के लिए तो छोटी योजनाएँ ही उपयोगी सिद्ध होंगी क्योंकि :

1. कम खर्च की होने के कारण हमारे आर्थिक सामर्थ्य के अन्दर हैं।
2. इनकी आयात-निर्भरता न्यूनतम है। न तो बाहर से मशीनों और न विशेषज्ञों के लिए इन्हें रुकना पड़ता है।
3. इनकी पूर्ति में समय कम लगता है अतः वे आशु फलदाई हैं।
4. बड़े बाँधों की भाँति वे पहले से ही कर्षित भूमि के बड़े-बड़े क्षेत्रों को जलमग्न नहीं करतीं।
5. जहाँ बड़ी योजनाओं में केवल 55 प्रतिशत पानी ही सिंचाई के काम आता है छोटी में 95 प्रतिशत तक काम में लाया जा सकता है।
6. स्थानीय सहयोग और प्रयत्नों का इस में अधिकधिक उपयोग हो सकता है।

अनुभव ने शासन को छोटी योजनाओं की ओर ध्यान देने की ओर बाध्य तो किया है किन्तु अभी तक उसका कोई व्यापक एवं समन्वित कार्यक्रम हाथ में नहीं लिया गया। दूसरी ओर नए कुएँ और तालाब बनाने के साथ-साथ हमें पुरानों को ठीक रखने तथा उनकी मरम्मत का भी विचार करना होगा। बहुधा एक ओर नए कुएँ बनते हैं और पुराने ढहते जाते हैं। पुराने ताल और तलैया को खोदने का काम कुछ प्रचारात्मक दृष्टि से वर्ष दो वर्ष चला कर बाद में बन्द हो गया। अभी भारत में लगभग 25 लाख कुएँ हैं। हम यदि प्रयत्न करें तो इस संख्या को कम से कम एक करोड़ तो सहज में ले जा सकते हैं। नल-कूप भी काफी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में छोटी-छोटी नहरों, गूलों और नालों की ओर भी ध्यान देना उपयोगी होगा।

हल या ट्रैक्टर

सिंचाई के अतिरिक्त किसान को अच्छे औजार, बैल, खाद एवं उर्वरक तथा उन्नत बीज की भी आवश्यकता है। कुछ लोग मशीनों में अडिग श्रद्धा रखने के कारण भारत के खेतों में भी पश्चिम के तरीके से ट्रैक्टरों से कृषि के पक्ष में हैं। किन्तु भारत के लिए वे अनुपयुक्त हैं। प्रथम तो हमारे यहाँ खेत बहुत छोटे हैं तथा किसान की जोत भी इतनी कम है कि उसमें ट्रैक्टर नहीं चलाया जा सकता। ट्रैक्टर के लिए खेत बड़े किये जायें, तथा उनमें सामूहिक खेती का अवलम्बन किया जाये यह भी सुझाव दिया जाता है। सामूहिक खेती भारत के भूमि-जन अनुपात, प्रजातंत्रीय पद्धति, बेकारी का निवारण, प्रति एकड़ अधिकतम उत्पादन, कृषि में मानकों के निर्धारण की असम्भवनीयता किसान का भूमि-प्रेम, एवं हमारे जीवन-मूल्य सभी दृष्टियों से हमारे लिए अनुपयुक्त है। किन्तु सामूहिक खेती को यदि छोड़ भी दिया जाये तो भी हम भारत की जलवायु एवं उसमें होने वाले भू-क्षरण के कारण बड़े-बड़े खेत जिनमें ट्रैक्टर चलाये जा सकें नहीं रख सकते। फिर न तो ट्रैक्टर अपने देश में अभी बनते हैं और न उनको चलाने वाला ईंधन ही अभी तक पर्याप्त मात्रा में प्राप्त है। उनके ड्राइवर और मरम्मत करने वाले, जल्दी और भारी मात्रा में प्रशिक्षित नहीं किये जा सकते। अतिरिक्त पुर्जा की प्राप्ति और मरम्मत के कारखानों का गाँव-गाँव में अथवा कम से कम केन्द्रीय स्थानों पर खोलना भी एक भारी काम है। यदि यह सब सम्भव भी हो गया तो हमारे पशुधन का उपयोग हमारे सामने एक समस्या उत्पन्न करेगा। आज भारत में 15 करोड़ 89 लाख गोवंश तथा 3 करोड़ 51 लाख महिष-वंश हैं। बैल और भैंसाओं की संख्या क्रमशः 6.42 करोड़ तथा 63 लाख है। गाय और भैंसों का उपयोग दूध के लिए होगा किन्तु बैल यदि हमारे कृषि के उपयोग में नहीं आता तो भार बन जाएगा। पश्चिम के देश गोमांसभक्षी हैं। अतः वे बैलों को खा जाते हैं। किन्तु भारत के लिए यह कल्पना करना उसकी परम्परा एवं राष्ट्रभावना के प्रति अज्ञानमूलक एवं अव्यावहारिक होगा। पशुधन को अनुत्पादक (Uneconomic) कह कर उसे काटा नहीं जा सकता बल्कि उसे उत्पादक (Economic) बनाकर अपने आर्थिक ढाँचे को सुदृढ़ किया जा सकता है। बैल हमारी खेती का धुरा है। ट्रैक्टर लाकर हम अपना सब महल ढहा देंगे।

हल और खेती के दूसरे औजार यद्यपि हमारे लिए बहुत कुछ उपयुक्त हैं किन्तु उनमें फिर भी छोटे-छोटे सुधार किये जा सकते हैं। कृषि-आयोग ने इनके सम्बन्ध में लिखा था : “भारत में कृषि के औजार साधारणतया स्थानीय अवस्थाओं के बहुत अनुकूल हैं। वे बैलों की सामर्थ्य के अनुरूप हल्के, वहनीय, सस्ते तथा सरलता से निर्माण योग्य हैं तथा अत्यन्त महत्व की बात यह है कि वे सहज उपलब्ध भी हैं।” जबसे लोहा मंहगा हुआ है तथा औजारों के बनाने का काम गाँव के बढई और लुहार के हाथ से निकल कर कारखाने वालों के हाथ में आ गया है तबसे वे सुलभ और सस्ते नहीं रहे। हमें इस बात की व्यवस्था करनी होगी।

खाद और उर्वरक

अन्न की उपज बढ़ाने के लिए तथा भूमि की उपजाऊ-शक्ति को बनाये रखने के लिए खाद की आवश्यकता है किन्तु जमीनों का ठीक-ठीक सर्वेक्षण उत्पादन की पद्धति, फसल, सिंचाई के साधन आदि का विचार करके ही उसके उपयुक्त एवं योग्य मात्रा में खाद एवं उर्वरक का उपयोग होना चाहिए। पिछले दस वर्षों में उर्वरकों के विषय में काफी प्रचार किया गया है तथा अमोनियम सल्फेट के प्रयोग में भी भारी वृद्धि हुई है। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि लगातार रासायनिक उर्वरकों का यदि उपयोग किया जाय तो खेतों की उर्वरा शक्ति बढ़ने के बजाय कम हो जाती है। अतः उनका उपयोग गोबर आदि की खाद के साथ मिलाकर सीमित मात्रा में ही करना चाहिए। सरकार द्वारा विकसित एवं कई बार किसानों को जबर्दस्ती दिया

गया अमोनियम सल्फेट खेतों में कितना डाला गया है इस विषय में भी निश्चित नहीं कहा जाता। मद्य-निषेध के कारण कई जगह उसका उपयोग गैरकानूनी शराब खींचने में किया जाने लगा है।

गोबर, मल-मूत्र आदि भारत के लिए अत्यन्त उत्तम खाद के साधन हैं अनुमान है कि देश में 8000 लाख टन गोबर का उत्पादन होता है। इसमें कम से कम 50 प्रतिशत के उपले बनाकर जला दिये जाते हैं। यह मत तो अनेक बार व्यक्त किया गया है कि ईंधन की दूसरी व्यवस्था करके गोबर को खाद के रूप में ही काम में लाया जाय। किन्तु इस ओर कुछ भी नहीं हुआ है। पेड़ों की भारी कमी है। जंगलात के नये कानूनों के अनुसार जो ईंधन के लिए सूखी और टूटी लकड़ियाँ इकट्ठा कर लेते थे वह भी सम्भव नहीं रहा। अभी कुछ प्रयोग हुए हैं जिनसे गोबर से गैस तैयार की जा सकती है। ईंधन एवं प्रकाश के लिए उसका उपयोग करने के बाद बचे हुए गोबर की खाद के लिए उपयोग किया जा सकता है। शासन को इसका परीक्षण करना चाहिए कि कहाँ तक यह तन्त्र व्यापक एवं उत्पादक आधार पर काम में लाया जा सकता है। फसलों की हेराफेरी से भी जमीन के नष्ट हुए उत्पादक तत्वों की पूर्ति की जा सकती है। जो नई फसलें आजकल पैदा की जाने लगी हैं इनकी अदल-बदल अन्य फसलों से कैसे की जा सकती है इसका ज्ञान किसान को देने की आवश्यकता है।

भारतीय पृष्ठभूमि का विचार

उन्नत बीज के सम्बन्ध में शासन ने जो कार्यक्रम बनाए हैं वे व्यवहार में नहीं लाए गए। प्रशासनिक अव्यवस्था और लाल-फीताशाही के परिणामस्वरूप समय पर बीज नहीं मिल पाता। फसलों को रोगों से बचाने के लिए भी कार्यवाही करने की आवश्यकता है। ये सब ऐसे कार्यक्रम हैं जिनमें मतभेद के लिए अधिक गुंजाइश नहीं। हम विदेशों के परीक्षणों से लाभ अवश्य उठा सकते हैं किन्तु अनुकरण नहीं कर सकते। हमें बाहर से प्राप्त ज्ञान के आधार पर अपने यहाँ अनुसंधान-केन्द्रों में पहिले परीक्षण करके अपनी गाँव की परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में ही उसका उपयोग करना चाहिए।

भूधृति

कृषि-उत्पादन का सम्बन्ध कृषक से भी आता है। खेत और खेतिहर इन दोनों का एक अविभाज्य सम्बन्ध है। भूमि में सुधार करने तथा अधिकधिक श्रम से अधिकतम उत्पादन करने के लिए यह आवश्यक है कि उसको इस बात की निश्चिन्ता हो कि वह भूमि से हटाया नहीं जाएगा, तथा पैदा की हुई फसल का अधिकांश भाग उसका अपना ही होगा। विभिन्न ऐतिहासिक कारणों से भारत की भूमि-व्यवस्था में बहुत से मध्यस्थों का समावेश हो गया है। जमींदार और जागीरदार तो अब समाप्त कर दिये गये हैं किन्तु रैयतवारी प्रथा के अन्तर्गत भी ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं जो स्वयं खेती नहीं करते बल्कि दूसरों को पट्टों पर देकर उनसे बदले में आधा से लेकर छठा भाग तक लेते रहते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जब तक विभिन्न प्रकार की सम्पत्तियों को किराये पर उठाने का अधिकार है तब तक भूमिपति (Landholder) को अपनी जमीन किराये पर देने से रोकना अन्याय होगा। किन्तु हमें भूमि एवं अन्य सम्पत्तियों में भेद करना होगा, और विशेषकर आज के समय जबकि भूमि में व्यापक सुधार कर हमें उत्पादन बढ़ाने की नितान्त आवश्यकता है। हम यह जानते हैं कि देश में छोटी-छोटी जोतों की संख्या बहुत ज्यादा है। यदि थोड़ी बहुत उन्नति करके कृषक अपनी फसल बढ़ाता है तो उसके पास बचत नहीं बढ़ती जिसको वह पूंजी के रूप में आगे लगा सके। कई बार तो वह खेती से ज्यादा पैदा करना ही नहीं चाहता क्योंकि उसे यह भय

बना रहता है कि यदि अधिक पैदा हुआ तो खेत की कीमत बढ़ जाएगी और फिर उसको वहाँ से हटाकर या तो मालिक खुद ही जमीन जोतेगा अथवा किसी दूसरे को अधिक किराये पर दे देगा। इसलिए आवश्यक हो गया है कि सब प्रकार की बेदखलियाँ समाप्त कर दी जायें। जो समाज प्रत्येक को काम देने की जिम्मेदारी लेना अपना आवश्यक कर्तव्य समझता हो वह बेदखल करके किसान को उपजीविका के साधन से कैसे वंचित कर सकता है? हाँ यदि वह भूमि को स्वयं न जोतकर अपनी उपजीविका किसी दूसरे रास्ते से कमा ले तो उसे भूमि पर स्वामित्व बनाये रखने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए।

व्यावहारिक दृष्टि से हमें इस सिद्धान्त की मर्यादाएँ समझनी होंगी। आज मध्यम वर्ग के ऐसे बहुत से लोग हैं जिनकी आय का प्रमुख साधन भूमि का किराया ही है। शासन को यह ध्यान में रखना होगा कि जैसे वह इनको अपनी आय के साधनों से वंचित करे वैसे समाज-सेवाओं के योग्य विस्तार से उनके जीवन-स्तर को गिरने न दे, क्योंकि मध्यमवर्गीय समाज की आज विभिन्न क्षेत्रों में काम करने, बढ़ने और विकास करने के लिए योग्य भूमि और प्रेरणा प्रदान करता है। संतुष्ट मध्यम वर्ग सभी विकास-योजनाओं के मार्ग में रोड़ा बनकर बैठ जाएगा जबकि वह जागरुक होकर व्यवस्था को गति दे सकता है। अतः जहाँ निहित स्वार्थों को बनाये रखना अनुचित है वहाँ उनको समाप्त करते हुए उन्हें योग्य दिशा देने की व्यवस्था होनी चाहिए।

जोतने वाले की भूमि : व्याख्या

‘जोतने वाले की भूमि’ का यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जा सकता कि जो हल की मूठ पकड़ता है वही भूमि का स्वामी होगा तथा अपनी मेहनत को छोड़कर किसान किसी दूसरे की सेवाओं से लाभ नहीं उठा सकता। उसे आवश्यकतानुसार मजदूर रख सकने का अधिकार होना चाहिए, अन्यथा खेती चौपट हो जायेगी। ‘जोतने वाले’ का साधारण अर्थ यही हो सकता है कि वह खेती के हानि-लाभ के लिए उत्तरदायी हो, उसमें पूँजी लगाता हो तथा उसकी देखभाल करता हो। फिर वह कृषि के भिन्न-भिन्न कामों से कितने स्वयं करता है और कितने दूसरों से मजदूरी पर करवाता है यह विचारणीय नहीं हो सकता।

ऐसे अवस्थाएँ भी हो सकती हैं जब किसी कारणवश किसान एक या दो वर्ष के लिए खेती न कर सकता हो। यदि उस अवस्था में भी वह अपनी जमीन दूसरे को कुछ समय के लिए खेती करने के लिए नहीं दे सकेगा तो वह या तो खेत को बिना बोए हुए छोड़ देगा या केवल कागजी कार्यवाही के लिए उस पर खेती करेगा। इसका परिणाम कृषि-उत्पादन के करने में होगा। अतः हमें कुछ अपवाद अवश्य करने होंगे।

अधिकतम जोत

भूमि के साथ भूमि की अधिकतम जोत का प्रश्न भी सबके सम्मुख है। बहुतांश तो इस प्रश्न की ओर केवल सामाजिक न्याय की दृष्टि से ही देखता है। वे यह अनुचित समझते हैं कि जहाँ बहुमत के पास अपने गुजारे भर को जमीन न हो वहाँ थोड़े से लोग भारी मात्रा में जमीन दबाकर बैठ जायें। समाज की विषमताओं को कम करने के लिए जमीन की अधिकतम जोत निश्चित करनी होगी। विषयताओं की कमी सर्वमान्य उद्देश्य है किन्तु किसान स्वाभाविक रूप से पूछ सकता है कि जब अन्य क्षेत्रों में इस ओर कोई पग नहीं उठाये जाते तब खेतों को ही इसके लिए क्यों चुना जा रहा है। वह यह भी कह सकता है कि उसे उत्पादन के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तथा विषमताओं की कमी विभिन्न प्रकार के कराधान से की जाये। सामाजिक न्याय का उद्देश्य इससे पूरा हो जायेगा।

भू-वितरण

भूमि की अधिकतम जोत की आवश्यकता इसलिए भी प्रतिपादित की जाती है कि उससे अतिरिक्त भूमि लेकर भूमिहीनों को दी जा सकेगी। भूमिहीनों में अधिकांश हरिजन वर्ग के होने के कारण समस्या को आर्थिक के साथ सामाजिक एवं राजनीतिक स्वरूप भी प्राप्त हो गया है। भूमिहीनों को भूमि देना सम्भव होगा या नहीं यह विवाद का विषय है। जो आंकड़े दिये गये हैं वे सर्वमान्य नहीं तथा अपने-अपने निष्कर्ष निकालने को भिन्न-भिन्न प्रकार के आंकड़े दिये जाते हैं। योजना-आयोग ने जो आंकड़े दिये हैं उनमें जोतों की संख्या निश्चित करते समय विभिन्न मध्यवर्ती अधिकारों का कोई ध्यान नहीं रखा गया, और न सिंचित एवं असिंचित भूखण्डों में विभेद किया गया है। अतः उससे कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। कृषि-श्रमिक जाँच समिति ने इस ओर महत्वपूर्ण काम किया है तथा जमीन वाले और बेजमीन वाले खेतिहर मजदूरों का अनुमान लगाया है किन्तु वहाँ भी प्रत्येक को कितनी जमीन और कैसे दी जाएगी इसका विचार नहीं हुआ। वास्तविकता तो यह है कि जमीन बाटने की जितनी कल्पनाएँ हैं वे एक स्थिर अर्थ-व्यवस्था का आधार लेकर चलती हैं। यदि हम अपनी अर्थ-व्यवस्था को गतिशील बनाना चाहते हैं तथा समाज के सभी वर्गों के सामने वृत्ति के अनेक द्वारा खोलना चाहते हैं तो भूमि के बारे में इतनी अधिक भूख नहीं रहेगी। फिर समाज-सुधार से यदि हमने समता लाई तथा खेतिहर मजदूर की उचित मजदूरी की व्यवस्था कर दी तो यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक के पास भूमि हो ही। फिर मजदूरों में ऐसा बहुत बड़ा वर्ग है जो साल में कुछ ही दिनों खेत पर काम करता है। खेती में बुवाई और कटाई के समय काफी लोगों की जरूरत पड़ती है। ऐसे समय हमें उन मजदूरों की सहायता लेनी ही होगी जो प्रमुख रूप से खेती के अतिरिक्त अन्य उद्योग-धंधों में लगे हुए हैं। यदि हमने नाम मात्र को जमीन दे भी दी तो हम उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकेंगे। उलटे जमीन से चिपटे रहने के कारण वे न तो दूसरे धंधों की ओर ठीक तरह से लग पायेंगे और न आवश्यकता पड़ने पर दूसरों की खेती पर मजदूरी ही कर सकेंगे। अतः भू-वितरण में हमें यह ध्यान रखना होगा कि जिसको जमीन मिले वह उसका आर्थिक जोत के रूप में उपयोग कर सके। उस दृष्टि से भूमिहीनों की अपेक्षा उन्हें प्राथमिकता प्राप्त हो जिनके पास अभी अनार्थिक एवं अपर्याप्त जोतें हैं।

अधिकतम जोत क्यों?

हम अधिकतम जोत के प्रश्न का मुख्यतया आर्थिक दृष्टि से विचार करेंगे। हमने भारत के लिए घनी खेती की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। यदि हम प्रति एकड़ अधिकतम उत्पादन करना चाहते हैं तो हमें किसान की दृष्टि में उत्पादन के अन्य साधनों की अपेक्षा प्रति एकड़ भूमि का मूल्य बढ़ाना होगा। उत्पादन के जो उपादान दुर्लभ होंगे उनका ही अधिकतम उपयोग करना होगा। पश्चिम में श्रम की कमी होने के कारण वे प्रतिव्यक्ति अधिकतम उपज की चिन्ता करते हैं। हमारे पास भूमि की कमी है अतः हमें प्रति एकड़ भूमि का सीमान्त उपयोग बढ़ाना होगा। इतनी भूमि रहने देना जिसके किसी भी भाग को अकारण पड़ती छोड़ना पुसाता हो अथवा जहाँ कम आदमी लगाकर अधिक उत्पादन की प्रेरणा हो वहाँ हम अपनी अर्थव्यवस्था को गति नहीं दे सकेंगे। कुछ लोगों का कहना है कि यदि थोड़े से लोगों के हाथ में बड़े-बड़े फर्म रख दिये तो स्वाभाविकतः विपणनार्थ गल्ला बेशी प्राप्त होगा बजाय उस अवस्था के जब अधिक लोगों के हाथ में अपेक्षाकृत छोटी जोतें हों। जहाँ तक शहर में रहने वाले मध्यम वर्ग का प्रश्न है उसके लिए यह अवस्था अल्पकालिक दृष्टि से उपयोगी रहेगी किन्तु इसका अर्थ-व्यवस्था को लाभ नहीं होगा। प्रथम तो हमें गल्ला सम्पूर्ण देश का पेट भरने को पैदा करना है। इसमें छोटे किसान अधभूखे रह जायेंगे। दूसरे कुछ लोगों के पास जब गल्ला अधिक बचेगा तो गल्ले के दाम नीचे आवेंगे। इससे छोटे किसान जो कुछ थोड़ा बचा भी पावेंगे उससे उन आवश्यक वस्तुओं को भी नहीं खरीद सकेंगे जिनसे वे अपना गुजारा कर सकें अथवा थोड़ा

बहुत अपनी खेती में सुधार कर सकें। जहाँ तक निर्मित वस्तुओं के मूल्यों का प्रश्न है वे गल्ले के मूल्य के साथ आनुपातिक दृष्टि से कम नहीं होंगे। यद्यपि मजदूर की आमदनी का बहुत बड़ा भाग खाद्यान्नों के खरीदने में जाता है फिर भी आज की अवस्था में उसकी मजदूरी गल्ले में गिरते हुए दामों के साथ गिराई नहीं जा सकती। फिर मुनाफे, मशीनों के दाम तथा विदेशों के मूल्य जिनका परिणाम भी कारखानों की वस्तुओं की कीमत पर पड़ता है, हमारे कच्चे माल और खाद्यान्न की कीमत पर निर्भर नहीं करते। पिछले 10 वर्षों का अनुभव भी यही है कि कच्चे माल और खाद्यान्नों के मूल्य में भारी गिरावट होने पर भी पक्के माल के मूल्यों में विशेष परिवर्तन नहीं आया। उलटे जिन पर नियंत्रण था अथवा एकाधिपत्य था उनके मूल्य बढ़े ही। सस्ते गल्ले के कारण नौकरी-पेशा तथा शहरी मध्यम वर्ग की अन्य वस्तुओं की क्रय-शक्ति कुछ अवश्य बढ़ेगी तथा वे कुछ कल-कारखानों को चालू रख सकेंगे। किन्तु भारत में यह वर्ग अत्यन्त ही सीमित होने के कारण वे उस बाजार को नहीं पैदा कर सकते जो व्यापक औद्योगीकरण की नींव रखे। इसके लिए तो हमें सर्वसामान्य कृषक का उत्पादन बढ़ाकर उसकी क्रय-शक्ति बढ़ानी होगी। मूल्यों के स्थिरीकरण में जोतों की विषमता में कमी बहुत सहायक होगी।

हमने यह भी निश्चित किया है कि जोतने वाला ही खेत का मालिक होगा। साथ ही मशीनीकरण को भी अनुपयुक्त माना है। इस अवस्था में एक व्यक्ति कुछ मर्यादा तक ही खेत को जोत-बो और उसकी देखभाल कर सकता है। यदि हमने उसके पास मर्यादा से अधिक खेत रखा तो उसमें से दूरवासी जमींदार पद्धति तथा मध्यस्थों की उत्पत्ति निश्चित ही हो जायेगी। यदि इन बुराइयों को दूर रखा तो फिर खेती का अधिकतम उत्पादन की दृष्टि से उपयोग नहीं हो सकेगा।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि उत्पादन वृद्धि के कार्यक्रम तो वे ही हाथ में ले सकेंगे जिनके पास कुछ साधन हैं। ऐसे साधन सम्पन्न व्यक्ति बड़ी-बड़ी जोतों वाले किसान ही हो सकते हैं। यदि हमने उनकी ऊर्ध्व सीमा निश्चित कर दी तो एक ओर तो वे अपने साधनों का उपयोग नहीं कर पायेंगे तथा दूसरी ओर साधनविहीन खेतों के मालिक ठीक प्रकार से भूमि का विकास और दोहन नहीं कर सकेंगे। इसमें कुछ सत्य अवश्य है किन्तु यदि अतिरिक्त भूमि का वितरण अनार्थिक जोतों को आर्थिक बनाने की दृष्टि से किया तो अधिकतम लोगों के बेकार पड़े हुए साधनों अथवा अर्द्ध प्रयुक्त साधनों का पूरा-पूरा उपयोग हो जाएगा। हमने अनार्थिक जोतों की संख्या ही बढ़ा दी तो हमें विशेष लाभ नहीं होगा। जिन साधनों से हम खेती करने का विचार कर रहे हैं वे ऐसे हैं जो आज अधिकांश किसानों को सहज-सुलभ कराये जा सकते हैं। हाँ यदि खेती पश्चिम के ही तरीके से करनी है तो फिर सम्पूर्ण दृष्टिकोण बदलना होगा।

जोत की मर्यादाएँ अधिकतम जोत होनी चाहिए इस सम्बन्ध में अधिक विरोध नहीं, किन्तु वह क्या हो इस विषय में भारी मतभेद है। इसका निर्णय आवश्यक आंकड़ों के अभाव में किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं किया जा सकता। देश में विभिन्न प्रकार की जमीनों, अनेक प्रकार की फसलों तथा उनके विभिन्न मूल्य, सिंचाई के साधनों की विभिन्नता, विभिन्न भूधृति के नियम, बागानों तथा कुछ यन्त्रप्रयोगी फर्मों की अस्तित्व ने इस समस्या को और भी विषम बना दिया है। वर्तमान की आवश्यकताएँ तथा दीर्घकालीन उपाय दोनों में कई बार विरोध आ जाता है। संविधान के अनुसार जब क्षतिपूर्ति की अनिवार्यता सम्मुख आती है तो आज की वित्तीय संकट की अवस्था में व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी उपस्थित हो जाती हैं। इसका ऐसा कोई हल देना जो सबके साथ पूरा-पूरा न्याय कर सके तथा प्रत्येक परिस्थिति में आर्थिक, सामाजिक एवं प्राकृतिक न्याय के मापदण्डों पर खरा उतरे सम्भव नहीं। फिर गतिमान अर्थनीति में तो यह और भी कठिन हो जाता है। अतः हमें इस सम्बन्ध में निर्णय लेते समय नैयायिक की भूमिका को छोड़कर ही चलना होगा।

पहिले हमें एक कुटुम्ब की जोत का निर्णय करना होगा। 5 व्यक्तियों में एक साधारण कुटुम्ब का सामान्य जीवनस्तर जिस जोत के सहारे प्राप्त किया जा सके उसे हम एक आर्थिक जोत कहेंगे। यह भूमि

की अवस्था, सिंचाई के साधन, अन्य उपादानों की प्राप्ति आदि पर अवलम्बित रहेगी। योजना आयोग ने इन बातों को ध्यान में रखते हुए उस भूमि को कुटुम्ब की इकाई के रूप में माना है जिससे 1200 रु0 प्रतिवर्ष की आय खर्चा को काटकर, किन्तु किसान के श्रम को सम्मिलित करके होती हो। जनसंघ ने अच्छी सिंचाई की भूमि का 5 एकड़ इस प्रकार का न्यूनतम माना है। इस आधार पर अधिकतम 30 एकड़ स्वीकार किया है। अर्थात् यदि योजना आयोग द्वारा निश्चित 1200 रु0 की आय 5 एकड़ से मान लें तो 30 एकड़ से 7200 रु0 की कम-से-कम आय आंकनी चाहिए। प्रारम्भिक अवस्थाओं में इस आय के बढ़ने की ही सम्भावना है। किन्तु योजना-आयोग ने केवल 3 पारिवारिक जोतों को अधिकतम जोत के रूप में स्वीकार किया है। इसके अनुसार राजस्थान में 2400 रु0, तेलंगाना में 3600 रु0 तथा शेष आन्ध्र में 5400 रु0 की मर्यादाएँ निश्चित करने के प्रस्ताव हो रहे हैं।

यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि इतनी कम जोत निर्धारित करना आर्थिक ही नहीं अन्य कारणों से भी समीचीन नहीं होगा। प्रजातन्त्र में यद्यपि प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार प्राप्त रहते हैं, किन्तु उसका व्यावहारिक स्वरूप प्रतिनिधिक होने के कारण हमें ऐसे वर्ग की आवश्यकता लगती है जो समाज के प्रत्येक वर्ग से प्रत्यक्ष सम्पर्क रखते हुए, उनका जीवन व्यतीत करते हुए भी लोकमण्डलों में विधायक काम के लिए समय और सामर्थ्य जुटा सके। यह कार्य मध्यम वर्ग ही सदैव से सम्पन्न करता आया है। हम यदि किसानों में से इस वर्ग को नष्ट कर देंगे तो भारत जैसे देश में जहाँ किसानों का बहुमत है, लोकतन्त्र सही रूप से नहीं चल सकेगा। शहरों और गाँवों में खर्चों की भिन्नता के कारण आय में कुछ अन्तर तो समझ में आ सकता है, किन्तु इतना भारी अन्तर कभी भी न्याय नहीं ठहराया जा सकता। कृषि में सुधार करने की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि गाँव में एक ऐसा वर्ग रहना चाहिए जो कुछ साहस करके नये-नये प्रयोग कर सके। जहाँ बहुत बड़ी जोत वाले निश्चिन्तता के कारण प्रयोग और अनुसंधान की वृत्ति खो बैठते हैं, वहाँ छोटी जोत के लोग इस विषय में साहस ही नहीं कर सकेंगे। अतः एक अच्छा मध्यम वर्ग रहा तो वह प्रत्येक किसान के लिए एक 'माडेल फार्म' बनाकर दिखाने की क्षमता रखेगा। कृषि-समाज उसका अनुकरण करके ही अनेक नवीन विधियों को अपना सकेगा। सरकारी प्रचार और नौकरशाही से यह कार्य सम्भव नहीं।

अधिकतम जोत एवं उसके निर्धारण का सिद्धान्त निश्चित करके उसका व्यवहार भी कुशलता से करना चाहिए। अनिश्चितता विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। योजना-आयोग ने यद्यपि पहिली पंचवर्षीय योजना में ही अधिकतम जोत निर्धारण की आवश्यकता का निर्देश किया था किन्तु तब से अब तक प्रचार को छोड़कर कोई काम नहीं हुआ। फलतः केवल इच्छाधीन कृषक ही नहीं भूमि के मालिक किसान भी अपने भविष्य के सम्बन्ध में अनिश्चित हो गये हैं। वे खेती के विकास में पूंजी लगाने से हिचक रहे हैं। आवश्यकता है कि इस कार्यक्रम को तुरन्त लागू किया जाये।

अधिकतम जोत निर्धारण के तीन मुख्य अंग हैं :

1. भावी खरीद एवं अवाप्ति
2. वर्तमान जोत
3. पट्टेदार से स्वयं की खेती के लिए भूमि की प्राप्ति

प्रथम और तृतीय प्रकार की अधिकतम मर्यादाएँ तो अनेक राज्यों में निश्चित कर दी गई हैं, किन्तु वर्तमान जोत अभी अछूती है। उत्तर प्रदेश में बृहत जोत-कर लगाकर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करने का प्रयास किया है कि बड़ी जोतों वाले स्वयं जमीन छोड़ दें। प्रयास कितना सफल होगा यह अभी कहना कठिन है।

अपवाद

वर्तमान जोतों के सम्बन्ध में जहाँ विधेयक प्रस्तुत किये गये हैं उनमें बहुत से अपवाद रख दिये गये हैं। बागानों को तथा बड़े-बड़े और मशीनों को काम में लाने वाले फार्मों तथा सुव्यवस्थित फार्मों को और सहकारी समितियों को अधिकतम जोत के प्रावधानों से मुक्त कर दिया है। बागान की खेती की अपनी विशेषता होने के कारण उन्हें मुक्त करना सकारण हो सकता है। किन्तु अन्य अपवाद सयुक्तिक नहीं। शासन ने इस प्रकार अपने हाथों में पक्षपातकारी शक्ति ले ली है तथा लोगों को ट्रैक्टर खरीद कर अथवा सहकारी समिति बनाकर कानून की अवज्ञा करने के व्यवस्था कर दी है। जब यान्त्रिक खेती को हम भारत के लिए अनुपयुक्त समझते हैं तो उन्हें विशेष सुविधाएँ देकर क्यों प्रोत्साहित किया जाय?

सहकारी खेती

योजना आयोग तथा कांग्रेस सहकारी खेती पर बहुत बल दे रहे हैं। चीन से प्रेरणा लेकर इसे भारत की कृषि-समस्या का एकमात्र हल समझा जा रहा है। एक शिष्टमण्डल भेजकर चीन की पद्धतियों का अध्ययन भी कराया गया था। शिष्टमण्डल की रिपोर्ट ने स्वाभाविकतः सहकारी खेती का समर्थन किया है किन्तु उसके दो सदस्यों ने अपना विमतिपत्र रिपोर्ट के साथ प्रस्तुत किया है।

सहकारी खेती का यह लाभ बताया जाता है कि उसमें अनेक छोटे-छोटे टुकड़े एक साथ आकर बड़े पैमाने पर खेती हो सकती है तथा सभी सुविधाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। बड़े पैमाने की खेती की अनुपयुक्तता का हम विचार कर चुके हैं। सहकारी खेती का अन्तिम स्वरूप क्या होगा तथा कितनी स्वेच्छया होगी इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नीति नहीं है। जहाँ तक व्याख्यानों का प्रश्न है सदैव यह कहा जाता है कि सहकारी समिति स्वेच्छा से बननी चाहिए किन्तु यह कितना व्यावहारिक होगा। योजना-आयोग ने बताया है कि शासन की ओर से प्राप्त होने वाली सभी सुविधाएँ सहकारी समितियों को मिलनी चाहिए। क्या यह कृषकों को स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी खेती करने एवं उसके विकास के लिए सभी साधन प्राप्त करने की सुविधा से वंचित करने का दूसरा रास्ता नहीं है? इतना ही नहीं, कांग्रेस भूमि-सुधार-समिति ने तो अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट लिखा है कि "यदि स्वयंस्फूर्त प्रयत्नों का कोई दृश्य परिणाम नहीं निकला तो अनिवार्यता की पद्धति अपनायी पड़ेगी।" अर्थात् चीन के समान सहकारी नाम पर सामूहिक खेती चलायी जाएगी।

सहकारी खेती के विषय में जनमत कितना विरुद्ध है और उसके कारण क्या हैं इसका उल्लेख स्वयं चीन जाने वाले शिष्ट-मण्डल ने अपनी रिपोर्ट में किया है। वह लिखता है - "भारतीय विचारकों, प्रशासकों तथा जन-नेताओं ने सहकारी खेती की उपयोगिता तथा व्यावहारिकता के सम्बन्ध में घोर आशंकाएँ प्रकट की हैं। कुछ-और वे हमारे राष्ट्रजीवन के महत्वपूर्ण अंग हैं- यह मानते हैं कि सहकारी खेती हमारी प्रकृति और प्रतिभा के प्रतिकूल है। भूमि के प्रति किसान का भारी लगाव है। वे यह भी मानते हैं कि जोर-जबर्दस्ती के बिना, जिसकी प्रजातन्त्र में कोई गुंजाइश नहीं, यह कार्यक्रम क्रियान्वित नहीं हो सकता। सामूहिक खेती का स्वाभाविक परिणाम एक ऐसे अत्यधिक प्रशासित एवं प्रतिष्ठान प्रधान समाज की रचना होगा जो कृषक के व्यक्तित्व एवं संसदीय प्रजातन्त्र दोनों के विकास के मार्ग में बाधक होगा। उन्हें यह भी भय है कि सहकारी खेती में किसान की उद्योग-प्रेरणा नष्ट हो जाएगी तथा उत्पादन गिर जाएगा और खर्च बढ़ ही जायेंगे।" किन्तु दुर्भाग्य है कि शासन ने इस महत्वपूर्ण विचार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

सहकारी खेती से देश की बेकारी-समस्या और भी भीषण हो जाएगी। चीन ने एक तानाशाही पद्धति से उन्हें विभिन्न कामों पर तथा दूर-दूर लगा दिया। किन्तु हम वैसा नहीं कर पावेंगे। कृषि में निर्जीव वस्तु का उत्पादन अथवा विधायन नहीं होता अपितु एक जीवमान सृष्टि की रचना होती है। हम इसके कार्य को विभिन्न निश्चित एवं मानकीकृत प्रक्रियाओं में नहीं बांट सकते। भारत में जहाँ पशु-धन ही सबसे बड़ी पूँजी

है और जिसके संरक्षण और संवर्धन के लिए मानव हृदय एवं सम्बन्धों की आवश्यकता होती है, हम एक सहकारी पद्धति की केवल काम में काम वाली व्यवस्था नहीं अपना सकते।

सहकारी खेती का अन्तिम उद्देश्य ग्राम का सामूहिक प्रबन्ध है। विनोबा जी का ग्रामदान भी इसी उद्देश्य को लेकर चला है। निश्चित है कि इसमें ग्राम-स्तर पर हम एक सकेन्द्रित व्यवस्था उत्पन्न कर देंगे। गाँव पंचायतों अथवा प्रबन्ध समितियों के हाथ में भारी शक्ति आ जाएगी तथा शेष कृषक केवल खेतिहर मजदूरमात्र रह जायेंगे। यदि शेष चुनाव भी अप्रत्यक्ष रूप से गाँव पंचायतों के द्वारा ही हों, जैसा कि प्रस्ताव है, तो इनके हाथ में इतनी अधिक शक्ति आ जायेगी कि साधारण लोग उन्हें कभी बदल ही नहीं सकेंगे।

सही रास्ता तो यह होगा कि किसान की आवश्यक चीजों को प्राप्त करने तथा उसकी जिन्सों को बेचने के लिए सहकारी समितियों की स्थापना की जाये तथा उसे स्वतन्त्र रूप से परिवार की इकाई के आधार पर खेती करने दी जाये। हाँ, जहाँ वे साझे में खेती करना चाहें कर लें। जमीन का स्वामित्व केवल कागजी न होकर प्रत्यक्ष एवं व्यावहारिक होना चाहिए।

अन्तर्विभाजन एवं अपखण्डन

भूमि का अन्तर्विभाजन एवं अपखण्डन भी भारतीय कृषि की एक समस्या है। इसे चकबन्दी द्वारा रोकने के प्रयास किए गए हैं। यद्यपि भूमि के टुकड़ों-टुकड़ों में बँटने के पक्ष में भी दलीलें दी जा सकती हैं किन्तु चकबन्दी के लाभ निस्संदेह बहुत अधिक हैं। जिन तरीकों और कानूनों के अन्तर्गत चकबन्दी की जा रही है उनमें पक्षपात एवं विभेद के लिए बहुत गुंजाइश है। फलतः छोटे-छोटे किसानों को असंतोष है। साथ ही भू-वितरण एवं चकबन्दी का कार्य यदि एक साथ किया जाता तो बहुत लाभ होता। आवश्यकता तो यह है कि प्रत्येक ग्राम के लिए एक (मास्टर प्लान) सर्वांगीण विकास की योजना बनानी चाहिए। फिर उसे क्रियान्वित चाहे धीरे-धीरे ही किया जाये किन्तु प्रत्येक कार्यक्रम समन्वित ढंग से हाथ में लिया जाना चाहिए। समुदायिक योजनाओं का इस दृष्टि से उपयोग किया जा सकता है।

हाल ही में बने हिन्दू उत्तराधिकार कानून ने अपखण्डन की प्रवृत्ति को और भी बढ़ा दिया है। बेटी को बाप की जायदाद में से हिस्सा होने के कारण जमीन का बंटवारा होता है और वह भी उस गाँव में जहाँ वह नहीं रहती। अच्छा तो यह हो कि उसे श्वसुर की जायदाद में से हिस्सा मिले। कम से कम यह तो व्यवस्था होनी ही चाहिए कि वह पिता की भूमि में से हिस्सा लेने के स्थान पर उसके बदले में उसका नकद मूल्य भाइयों से पाने की अधिकारिणी हो।

भूक्षरण

भूक्षरण को रोकने के भी कार्यक्रम बनाने होंगे। सिंचाई, जंगलों और पेड़ों की कटाई, नई जमीनों को तोड़ने की कोशिशें, चकबन्दी, अन्धाधुन्ध चराई विशेषकर बकरियों द्वारा, तथा पहाड़ी ढालों पर खेती आदि अनेक कारण भूक्षरण के लिए जिम्मेदार हैं। जितनी जमीन हम हल के नीचे लाने की कोशिश करते हैं उससे अधिक कई बार नष्ट हो जाती है। बड़े-बड़े बांधों ने नदी के तलों को छिछला बना दिया है फलतः वे वर्षा के पानी को पूरी तरह थाम नहीं पाते। बाढ़ के साथ ही वे रेत भी आस-पास की जमीन पर बिछाकर उसे खेती के अयोग्य बना देते हैं। राजस्थान की मरुभूमि धीरे-धीरे पूर्व की ओर बढ़ती जा रही है। सेम की समस्या का पहिले जिक्र किया जा चुका है। वनारोपण एवं वनसंरक्षण, छोटी-छोटी झाड़ियों एवं पौधों की

रक्षा, मेड़ें बनाना, पानी के बहाव की तेजी को रोकना, हेरफेर कर चराई आदि कार्यक्रमों से इस समस्या के निदान की उपाय-योजना की जा सकती है।

विपणन

उत्पादन-वृद्धि के कार्यक्रमों के साथ ही कृषि-माल के विपणन एवं ऋण की व्यवस्था भी करनी होगी। अभी तक गाँव का साहूकार कुछ अंशों में दोनों ओर कुछ अंशों में एक कार्य करता रहा है। किन्तु बाजारों की योग्य व्यवस्था न होने के कारण किसान को कभी उचित दाम नहीं मिल पाया है। कच्चे माल के कम दामों के लिए साधारणतः आढ़तियों तथा व्यापारियों को दोषी ठहराया जाता है। वे कभी-कभी किसान की गर्ज और विवशता का अनुचित लाभ उठा लेते होंगे किन्तु इसके लिए तो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की मूलतः दोषी है। इसमें कच्चे माल और पक्के माल के मूल्यों के बीच कोई ताल-मेल नहीं। यद्यपि पक्के माल की अपेक्षा कच्चे माल की आवश्यकता अधिक होती है फिर भी कच्चे माल को पक्के माल की तुलना में अधिक देर तक संचय करके नहीं रखा जा सकता। पक्का माल अधिक दिनों तक टिक सकता है तथा उसकी उत्पादन की जो पद्धति स्वीकार की गई है उसमें उनके निर्माणकर्ताओं का अपने माल को रोक रखने का सामर्थ्य भी अधिक है। किसान की जिन्स एक थोड़े से समय में बाजार में सबकी सब आ जाती हैं जबकि माल की अन्तिम मांग सम्पूर्ण वर्ष भर फैली रहती, उसकी पूर्ति एक साथ होती है। पण्य-व्यवस्था के अनुसार वास्तविक मांग की अपेक्षा व्यापारी द्वारा अनुमानित माँग और सम्भरण की अन्तर्क्रिया से मूल्य का निर्धारण होता है। अतः किसान के साथ न्याय करने के लिए आवश्यक है कि गाँवों में कोठार एवं गोदाम बनाये जायें, तथा किसान को अपनी फसल की साख पर योग्य ऋण प्राप्त हो जाये। सहकारी समितियाँ यह काम भली भाँति कर सकती हैं।

यदि उत्पादक और उपभोक्ता के बीच दूरी कम की जा सके तथा बिचौलियों को हटाया जा सके तो मूल्यों को यह भारी अन्तर तथा उतार-चढ़ाव भी बहुत कम हो जायेगा। शुक्रनीति में वैश्य की व्याख्या करते हुए लिखा है :

“क्रयविक्रय कुशलाये नित्यपण्य जीविनः।

पशु रक्षा कृषि करास्ते वैश्याः कीर्तिता भुवि।।

अर्थात् “जो क्रय-विक्रय में कुशल हैं, पण्यजीवी हैं, पशु-रक्षा तथा कृषि करते हैं वे विश्व में वैश्य के नाते कीर्ति प्राप्त करते हैं।” इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि किसानों और व्यापार दोनों ही कार्य एक साथ रखे गये हैं। जबसे वैश्य ने केवल वाणिज्य ही अपने पास रख लिया तथा अपना दूसरा काम छोड़ दिया तबसे ही यह विषमता पैदा हो गई तथा वाणिज्यजीवी लोगों की संख्या बढ़ गई। केवल विनिमय के माध्यम के रूप में ही जीवित रहता हो वह अर्थ के प्रभाव की सृष्टि करेगा। हमें इस संख्या को न्यूनतम करना होगा। व्यापारी, उद्योगपति अथवा कृषक बनकर उत्पादक बने यह आवश्यक है। सहकारी समितियों को उनका स्थान लेना चाहिए।

मूल्य—निर्धारण

फसल के विक्रय की जब तक ठीक—ठीक व्यवस्था नहीं होती यह अवश्य है कि शासन उचित मूल्यों का निर्धारण कर उन पर खरीदने की तैयारी रखे। साथ ही उसे कम आय वाले व्यक्तियों के लिए सस्ते भावों पर बेचने की भी व्यवस्था करनी चाहिए।

जब से किसान के सभी कामकाज मुद्रा के माध्यम से चलने लगे हैं उसे अपनी फसल का बेचना आवश्यक हो गया है। मुद्रा का आधिक्य सदैव स्फीतिकारी होता है, जिसका लाभ कृषक को न मिलकर मध्यस्थों को मिलता है। प्राचीन शास्त्रों में अर्थ के प्रभाव को रोकने के लिए मुद्रा को सीमित रखने तथा विनिमय प्रथा की रक्षा की आवश्यकता बताई है। विनिमय आजकल एक अविकसित अर्थ—व्यवस्था का चिह्न समझा जाता है। हमें इस सिद्धान्त का विचार करना होगा तथा कम से कम कुछ बातों के लिए इसकी व्यवस्था करनी होगी। उदाहरणार्थ, बीज को सवाई पद्धति पर दिया जाये। अन्य ऋण भी गल्ले के रूप में वसूल किये जा सकते हैं विशेषकर बहु—उद्देशीय सहकारी समितियों द्वारा दिये गये ऋण, किसान की अन्य आवश्यक वस्तुएँ भी फसल के बदले में दी जायें, खेतिहर मजदूर का पारिश्रमिक मुद्रा के रूप में न चुकाकर गल्ले में ही दिया जाय। ऐसी कुछ व्यवस्थाओं से हम किसान के हित में मूल्यों का बहुत कुछ नियन्त्रण कर सकते हैं।



7. उद्योग

औद्योगीकरण की आवश्यकता

कृषि के उपरान्त हमें उद्योगों का विचार करना होगा। भारत का औद्योगीकरण सभी दृष्टियों से आवश्यक है। बिना इसके खेती पर निर्भर व्यक्तियों की संख्या नहीं घटाई जा सकती। कृषि पर अधिक भार होने के कारण ही नहीं, अपितु उसका योग्य विकास करने तथा सभी व्यक्तियों को पूरा काम देने के लिए लोगों को उद्योग-धन्धों में जुटाना नितान्त आवश्यक है। अभी तक भारत कच्चा माल पैदा करता रहा तथा पक्के माल के लिए विदेशों पर निर्भर रहा। फलतः वह कभी आत्मनिर्भर नहीं हो पाया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विशेषकर मन्दी के दिनों में उसे, भारी संकटों का सामना करना पड़ा। प्राचीन शास्त्रकारों ने वाणिज्य, शिल्प एवं उद्योगों के सम्बन्ध में यह लिखा है कि उन्हें अपरमात्रिक होना चाहिए। अर्थात् किसी आवश्यक वस्तुओं के लिए उन्हें दूसरे देशों पर निर्भर न रहना पड़े। हाँ, देश के उद्धर्त माल को बाहर निकालने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उपयोग होना चाहिए। उस स्थिति में अपने देश की चीजों को अत्युत्तम बनाने का प्रयास होगा, जिसमें उनकी बाहर खपत हो सके। जहाँ अपने यहाँ के उद्योगों को टिकाने के लिए जैसे भारत के कपड़े की मिलों को चलाये रखने के लिए मिश्र की रूई, अथवा माल के उद्धर्त न होते हुए भी देश के लोगों को उपभोग से वंचित करके जैसे आजकल शक्कर, खली, ज्वार आदि का भारत से निर्यात, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आवश्यक अंग हो जाय, वह देश कभी 'अपरमात्रिक' नहीं बन पाता। उसकी अर्थ-व्यवस्था ठीक नहीं चल सकती। सुरक्षा की दृष्टि से भी अनेक प्रकार के शास्त्रास्त्र व युद्ध सामग्री तैयार करने के लिए हमें उद्योगों का विकास करना होगा।

विचारणीय उपादान

औद्योगिक नीति का विचार करते समय हमें श्री० मो० विश्वेश्वरैया के अनुसार इन सात बातों का विचार करना चाहिए : 1. Men 2. Material 3. Money 4. Machinery 5. Management 6. Motive power 7. Market. अर्थात् 1. मनुष्य 2. माल 3. मुद्रा 4. मशीन 5. प्रबन्ध 6. शक्ति और 7. मांग। इन सातों का ठीक-ठीक मेल बिठाये बिना यदि हमने उद्योग-धन्धे प्रारम्भ किये तो वे चल नहीं पायेंगे। ये सातों एक दूसरे के पूरक हैं। यदि इनमें से एक में भी बदल किया तो फिर दूसरों में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। जो मनुष्य एक साधारण छापे की मशीन पर काम कर सकता है। वह 'रोटरी' पर उपयोगी सिद्ध नहीं होगा। जो गाड़ी बैल से चलाई जा सकती है वह पेट्रोल से नहीं चल सकती। जहाँ धोतियों के लिए बाजार है वहाँ फ्राक बनाना बुद्धिमानी नहीं होगी। जिसके पास केवल दस हजार रुपये हैं वह एक लाख की मशीन लगाकर उद्योग प्रारम्भ नहीं कर सकता। जो दस आदमियों के एक छोटे से कारखाने की देखभाल कर सकता है वह दस हजार आदमियों की मिल का प्रबन्धक नहीं बन सकता, जहाँ पत्थर मिलता ही न हो वहाँ पत्थर कूटने की मशीन लगाना निरी मूर्खता ही होगी।

सामाजिक उद्देश्य

उपर्युक्त सातों उपादानों का मेल बिठाते समय कई बार उनमें से एक या दो को आधार मानकर शेष को उनके अनुरूप बदलना पड़ता है। कई बार हमारा अन्तिम लक्ष्य क्या है इसका विचार करके भी इनमें से एकाधिक को प्रमुखता देनी होती है। उदाहरणार्थ, जहाँ हमें किसी न किसी प्रकार से बहुत बड़ी मात्रा में थोड़े समय में कोई माल तैयार करना है, जैसे लड़ाई के काल में, वहाँ हम ऐसी मशीन लगायेंगे जो अधिक उत्पादन कर सकें। किन्तु जब हम प्रत्येक व्यक्ति को काम देना ही अपना लक्ष्य रखते हों तो हमें श्रम बचाने वाली मशीनों की आवश्यकता नहीं होगी।

किसी उद्योग के स्वरूप का जब एक व्यक्ति विचार करता है तो वह यही देखता है कि सभी उपादानों का इस प्रकार उपयोग किया जाय कि उत्पादित माल बाजार में सस्ता एवं अच्छा होने के साथ प्रतिस्पर्धा में टिक सके। उसके इस प्रयास में अन्य व्यक्तियों और उद्योगों पर कौन-सा परिणाम होता है, उसकी वह चिन्ता नहीं करता। किन्तु इस ओर प्रथम प्रयास करने-वालों को सदैव ही उन लोगों से कठिन संघर्ष लेना पड़ता है जो पहिले से उस क्षेत्र पर प्रभुत्व जमाकर बैठे हैं। उसका सामर्थ्य जब कम पड़ता है तो वह समाज से सहायता की याचना करता है। विभिन्न देशों की संरक्षण-नीतियों का जन्म इसमें से ही हुआ। यह आश्चर्य का विषय है कि जो संरक्षण के सहारे बढ़े, वे दूसरों को उनके मुकाबले में संरक्षण दिया जाता है तो विरोध करते हैं। समाज को अपनी उद्योगनीति का निर्धारण व्यापक सामाजिक उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के हित में करना होगा। हमने इसके पूर्व ही यह निश्चित किया है कि हमारे सामाजिक लक्ष्य राष्ट्र की सुरक्षा-सामर्थ्य को बढ़ाना, उपभोग एवं उत्पादक वस्तुओं की वृद्धि, प्रत्येक को काम, न्यूनतम जीवन-स्तर की अवाप्ति, विषमताओं, कमी तथा विकेन्द्रीकरण हैं। खुले व्यापार तथा उन्मुक्त प्रतिस्पर्धा के आधार पर हम देश के उद्योग-धन्धों को बढ़ा नहीं पाये हैं। राज्य का संरक्षण तथा विदेशी भावनाओं के सहारे जन-बल का संरक्षण प्राप्त करके ही देश के कुछ उद्योग-धन्धे बढ़े हैं। आज जब हम सर्वांगीण विकास का विचार करते हैं तो संरक्षण की अनिवार्यता को स्वीकार करके चलते हैं। यह संरक्षण देश के उद्योगों को विदेशी उद्योगों की प्रतिस्पर्धा से तथा देश में छोटे उद्योगों को बड़ों की प्रतिस्पर्धा से देना होगा।

विद्यमान उद्योग

औद्योगिक नीति का विचार करते समय हमें यह भी ध्यान में रखना आगा कि हम आज एक कोरी स्लेट पर नहीं लिख रहे हैं। देश में पहिले से कुछ उद्योग-धन्धे चल रहे हैं। उनमें जहाँ एक ओर पूरी तरह संघटित एवं अद्यतन प्रविधियों का उपयोग करने वाले उद्योग हैं तो दूसरी ओर पुराने चले आनेवाले असंघटित एवं अर्द्धविकसित उद्योग हैं। हमें अपनी नीति का निर्धारण इन सबका विचार करके करना होगा। विशेषकर जब हम कोई नई तकनीक अपनाते हैं तो उसका परिणाम पुरानी इकाइयों पर भी पड़ता है। एक ओर नई मशीनों के लिए सब प्रकार की व्यवस्था करनी होती है तो दूसरी ओर पुराने धन्धे में लगी पूँजी बेकार हो जाती है। नये कारखानों के लिए प्रशिक्षित व्यक्तियों का अभाव होता है तो दूसरी ओर पुराने कारीगरों को काम नहीं मिलता। जहाँ एक ओर अपने कारखानों को चलाने के लिए बाहर से कच्चा माल तथा उत्पादक वस्तुएँ मँगानी पड़ती हैं वहाँ दूसरी ओर देश के कच्चे माल के लिए बाजार नहीं रहे। यह सब हमारी असुविचारित उद्योग-नीति के कारण है। हमने पश्चिम की तकनीकी प्रक्रिया का आंख बन्द करके अनुकरण किया है। हमारे उद्योगों का स्वाभाविक विकास नहीं हो रहा है। वे हमारी अर्थ-व्यवस्था के अभिन्न एवं अन्योन्याश्रित अंग नहीं अपितु ऊपर से लादे हुए हैं। उनका विकास या तो विदेशी उद्योगपतियों द्वारा विदेशी माल के देश में विधायन के निमित्त शाखा खोलने, या देश के ही कच्चे माल को विदेशी हितों और

पद्धतियों से तैयार करने अथवा विदेशियों के अनुकरणशील सहयोगी अथवा अभिकर्ता कतिपय देशी व्यापारियों द्वारा हुआ है। यही कारण है कि भारत के उद्योगपतियों में सबके सब व्यापारी, आढ़तिया तथा सटोरियों में से आये हैं। उद्योग एवं शिल्प में लगे हुए कारीगरों का विकास नहीं हुआ है।

नई प्रौद्योगिकी की आवश्यकता

देश के उपलब्ध उपदानों के अनुरूप उत्पादन-प्रक्रिया का निर्धारण एवं विकास हमारी सबसे बड़ी समस्या है। श्री एम0एस0 ठक्कर ने मद्रास में भारतीय विज्ञान कांग्रेस के सभापति पद से बोलते हुए कहा था; “अभी तक हमने बाहर के देशों से स्फूर्ति ली है। हमने मशीनों, कारखानों, तज्ञों तथा कारीगरों का आयात किया है। शायद यह उन परिस्थितियों में आवश्यक हो। परिणाम यह हुआ कि भारत में जो बड़े यान्त्रिक उद्योग स्थापित हुए हैं वे दूसरे देशों की नकल भर हैं। देशी आविष्कारों पर विकसित उद्योग कदाचित् ही मिलेंगे। हमें पश्चिम से बड़ी उदारता से सहायता मिलेगी। हम ज्ञान, विज्ञान एवं सौहार्द को जहाँ से भी वह मिलेगा लेंगे, किन्तु प्रत्येक पुष्प से मधु लेकर भी शहद में परिवर्तित करने वाली मधुमक्षिका की भाँति हमें सम्पूर्ण प्राप्त सहायता को अपनी आवश्यकताओं और लक्ष्यों के अनुरूप ढालकर देश में औद्योगीकरण के ऐसे ढाँचे का विकास करना होगा जिसे हम अपना कह सकें। यह भारत के वैज्ञानिकों एवं प्राविधिकों के ऊपर दायित्व है।” यह चुनौती है जो हमें स्वीकार करनी चाहिए।

भारत में जब उपलब्ध साधनों का विचार करते हैं तो हम निश्चित ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारी उत्पादन-प्रक्रिया श्रम-प्रधान होनी चाहिए। हमारे पास प्रथम तो पूँजी की कमी है और जो कुछ हम बचा पाते हैं उसे जब हम श्रम-बचत की योजनाओं के आधार पर अचल पूँजी के रूप में परिवर्तित करते हैं तो वह विदेशों में चली जाती है तथा उसका हमें वास्तविक लाभ कम हो पाता है। इसके अतिरिक्त हमारे पुराने औजार और मशीनें बेकार हो जाती हैं। जिससे पूँजी विनाश (Decapitalization) तथा बेकारी (Disemployment) तेजी से बढ़ते जाते हैं। इस बढ़ी हुई बेकारी के कारण देश में अधिकांश लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठने के बजाय घटता है। पश्चिमी ढंग की तथा बहुत गूढ़ (Complex) उत्पादन-प्रणाली से थोड़े बहुत लोगों को काम अवश्य मिल जाता है किन्तु देश में वह गतिशील प्रक्रिया उत्पन्न नहीं हो पाती जो अर्थ-व्यवस्था को बदलकर समाज में गहरे एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सके। यदि हमें ऐसी उद्योग व्यवस्था कायम करनी है जो कृषि के साथ सुसम्बद्ध हो सके तथा कृषि से भार कम कर सके तो उसके लिए बड़े उद्योगों के स्थान पर छोटे उद्योगों को प्रमुखता देनी होगी। थोड़े लोगों तथा सरल औजारों के साथ छोटी-छोटी इकाइयाँ ही आज की परिस्थिति में हमारे लिए सर्वोत्तम हैं। देश की तथा समाज की सम्पूर्ण अवस्था की आर्थिक क्षेत्र में इसी रूप में अभिव्यक्ति हो सकती है। अर्थात् हमें जो कुटीर एवं छोटे-छोटे उद्योग चल रहे हैं तथा जो कारीगर उनमें काम कर रहे हैं उन्हें आधार बनाकर उनके विकास की व्यवस्था करनी चाहिए। बहुधा यह देखा जाता है कि छोटे उद्योगों की सहायता के नाम पर कुछ ग्रामोद्योगों (जिन्हें कांग्रेस ने अपने रचनात्मक कार्यक्रम में सम्मिलित किया था) सहायता दे दी जाती है। वे अनुदानों पर निर्भर रहकर किसी न किसी प्रकार जीवित रहते हैं। आवश्यकता तो यह है कि उन्हें औद्योगिक कार्यक्रम का आधार बनाकर उनका विकास किया जाये। उनमें एक स्वयं की शक्ति उत्पन्न करनी होगी। कई बार शौकिया भी कुछ ऐसे लोगों को जिनका उनसे कभी सम्बन्ध नहीं रहा ग्रामोद्योगों में प्रशिक्षित करने का प्रयास किया जाता है। यह धन का अपव्यय है।

जब हम बड़े उद्योगों को विरोध करते हैं तो मशीन का विरोध नहीं करते। हाँ, उसकी मर्यादाएँ अवश्य अनुभव करते हैं। आज शासन की उद्योग नीति में विशालकाय बड़े उद्योग तथा चरखा जैसे छोटे

ग्रामोद्योग ही आते हैं। वे छोटे-छोटे उद्योग जो आज की जीवन की अनेक आवश्यकताओं को आधुनिक उत्पादन-पद्धति से पूरा करते और कर सकते हैं, अभी तक उपेक्षित हैं।



8. मनुष्य और मशीन

बेकारी

औद्योगिक नीति का उद्देश्य प्रत्येक समय और स्वस्थ व्यक्ति को लाभकारी काम देना होना चाहिए। इस दृष्टि से हमें उनकी संख्या, योग्यता, उत्पादकता, काम और बेकारी की प्रकृति और व्याप, संक्रमणशीलता आदि का विचार करना पड़ेगा। रोजगार और बेकारी सम्बन्धी आंकड़ों का पूर्णतया अभाव है। हाल ही में भारत शासन ने इस सम्बन्ध में एक समिति बिठाई है। मोटे तौर पर हम यदि यह मान कर चलें कि 15 से लेकर 55 तक की आयु के व्यक्तियों को पूरा काम मिलना चाहिए तो उनकी संख्या 1951 की जनगणना के अनुसार 53.4 प्रतिशत अर्थात् 19 करोड़ के लगभग थी। आत्मनिर्भर एवं अर्जक आश्रितों की संख्या क्रमशः 10.44 करोड़ तथा 3.79 करोड़ थी। यदि एक करोड़ के लगभग मध्यमवर्गीय उन महिलाओं की संख्या लगा लें जो आश्रित होते हुए भी अन्य प्रकार से कुटुम्ब के लिए उपयोगी हैं और जो जीविकोपार्जन के लिए नौकरी आदि की चिन्ता नहीं करेंगी, तो भी लगभग 3 करोड़ 67 लाख व्यक्ति ऐसे रहते हैं जिन्हें काम नहीं मिल सका।^{§§} अर्थात् संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के कारण इनमें से अधिकांश आश्रित के नाते जीवन निर्वाह करते हैं तथा काम चाहने वाले बेकारों की संख्या में सम्भवतया न आवें। ज्यों-ज्यों यह प्रथा टूटती जा रही है तथा उसके कारण प्राप्त सामाजिक सुरक्षा से व्यक्ति वंचित होता जा रहा है यह छिपी हुई बेकारी प्रकट होती जाती है।

पूर्ण रोजगार

यदि हम बेकारी निवारण के अभावात्मक प्रश्न के स्थान पर पूर्ण रोजगार के भावात्मक कार्यक्रम को हाथ में लें तो हमें अपनी जनशक्ति का, जो कि हमारी सबसे बड़ी पूंजी है, अधिकतम उपयोग करना होगा। एक अनुमान तो यहाँ तक लगाया गया है कि हमारी लगभग 64 प्रतिशत जनशक्ति का हम उपयोग नहीं कर पाते। गाँव में खेतिहर मजदूर जाँच-समिति के अनुसार पुरुष मजदूर 1 वर्ष में 218 दिन काम पाता है। शेष में 49 दिन वह अपने काम में लगाकर 98 दिन बेकार रहता है। किसान भी इसी प्रकार वर्ष में 3 मास के लगभग बिना काम के बिताता है। जिन दिनों वे काम करते हैं उन दिनों भी वे पूर्ण कार्यरत (Fully employed) हैं ऐसा कहना कठिन है। शकर आदि अनेक उद्योग भी ऐसे हैं जिनमें काम मौसमी आधार पर होता है। हमें इन सबको पूरा-पूरा काम देने की व्यवस्था करनी होगी।

संघटित उद्योगों में औद्योगिक विवाद के कारण भी हमारा बहुत सा श्रम बेकार चला जाता है। इन विवादों और उनसे होने वाली क्षति के कुछ आंकड़े निम्नलिखित हैं :

वर्ष	कामबन्दी	मजदूर सम्बन्धित	व्यक्ति दिवस की क्षति
1951	1071	691321	3,818,928
1952	963	809242	3,336,961
1953	772	466697	3,382,608
1954	840	477138	3,382,608
1955	1166	527767	5,697,848

^{§§} द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह अनुमान गाँवों में 28 लाख तथा शहरों में 25 लाख, इस प्रकार कुल 53 लाख का लगाया है।

1956	1258	722334	709,560
------	------	--------	---------

1957 में इन विवादों के कारण 54 लाख 66 हजार व्यक्ति-दिनों के काम की हानि हुई। यह केवल उन विवादों का वृत्त है, जिनमें 10 से अधिक व्यक्ति सम्मिलित हों तथा काम बन्द हो जाय। यह हमारी श्रमशक्ति का दुरुपयोग है। इसी प्रकार गैर-हाजिरी का औसत भी 24 प्रतिशत तक आता है। निश्चित ही हम प्रति इकाई पूँजी की अधिकतम उपयोग नहीं कर पाते।

ग्रामीण बेकारी की विशेषता

जब हम भारत की काम की स्थिति का और अधिक विश्लेषण करते हैं तो गाँव में कुछ दिन ऐसे रहते हैं जब कोई भी बेकार नहीं रहता बल्कि काम करने वाले आदमियों की कमी पड़ जाती है जबकि बाकी दिनों में लोगों के पास काम की कमी रहती है। यदि हमने गाँव से कुछ लोगों को स्थायी रूप से हटा दिया तो कटाई और बुआई के समय श्रमिकों की कमी से हमारी खेती को भारी हानि पहुँचेगी। भारत की जलवायु तथा वर्षा की स्थिति के कारण न तो हम इन कामों को धीरे-धीरे एक लम्बे समय में पूरा कर सकते हैं और न हम मशीनों का ही उपयोग कर सकते हैं। अतः हमें गाँवों में ही उद्योग-धन्धे खोलकर लोगों को पूरे समय के लिए काम में लगाना होगा।

संक्रमणशीलता

भारत के श्रमिक को सदैव ही असंक्रमणशील बनाया गया है। जहाँ तक उसके व्यवसाय और वृत्ति का सम्बन्ध है उसके इस गुण ने समाज की व्यवस्था को भारी बल प्रदान किया है। व्यवसाय को धर्म मानकर चलते हुए उसने अनेक प्रकार के परम्परा प्राप्त कौशल एवं ज्ञान को जीवित रखा है। युद्ध, तेजी और मन्दी की कठिनाइयों में इन्हीं उद्योग-धन्धों ने राष्ट्र और व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूर्ण किया है। जब हम विकास का विचार करते हैं तो इस पुराने ढाँचे को तोड़कर व्यक्ति को असहाय एवं अनिश्चित बनाने के बजाय इस ढाँचे को मजबूत, आर्थिक दृष्टि से लाभकारी तथा अन्य कालक्रमानुसार उत्पन्न बुराइयों से मुक्त करना होगा। गाँवों में छोटे उद्योग इस कसौटी पर पूरे उतरते हैं।

प्रादेशिक संक्रमणहीनता का आरोप भारतीय श्रमिक पर गलत लगाया जाता है। भाखड़ा, भिलाई, कोयना, नईविली, चम्बल, योकामा आदि में, जहाँ विभिन्न योजनाओं पर काम हो रहा है, हमें सम्पूर्ण भारत के मजदूर काम करते हुए मिलेंगे। इसके पूर्व भी भारत से लाखों की तादाद में श्रमिक गिरमिटिया कानून के अन्तर्गत विदेशों तक गये। जमशेदपुर, अहमदाबाद, बम्बई और मद्रास के कारखानों में दूर-दूर से लोगों ने आकर नौकरी की। हाँ, यह बात सत्य है कि समाज की व्यवस्था तथा भूमि और कृषि की अवस्था ने उसको सदैव के लिए गाँव से बन्धन नहीं तोड़ने दिया। आज भी यदि हम चाहते हैं कि गाँव का जीवन नीरस न हो तथा वहाँ राजनीतिक एवं आर्थिक समर्थ्य का विकास हो तो हमें योग्यतर लोगों को शहर की ओर जाने से रोकना होगा।

पाश्चात्य अर्थशास्त्र के अनुसार नागरीकरण का स्तर विकास का आधार माना जाता है। भारत में धीरे-धीरे नगरों की संख्या तथा आबादी बढ़ती जा रही है। शहरों ने पश्चिम के जीवन में अनेक सामाजिक, नैतिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी तथा राजनीतिक समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। उनके ऊपर होने वाला खर्च बहुत

ज्यादा है। भारत के गर्म जलवायु के कारण तो जमघट बनाकर रहना हमारे लिए बहुत ही हानिप्रद है। यक्ष्मा आदि भयंकर रोगों की वृद्धि का यह बहुत बड़ा कारण है। हमारे शहरों में कटड़े (Slums) बढ़ते जा रहे हैं। आवश्यकता नये शहरों की नहीं अपितु गाँवों के औद्योगीकरण की है।

कारीगरी

मनुष्य केवल दो हाथ-पैर से उत्पादक नहीं बनता। जिन मशीनों या औजारों के सहारे उत्पादन हो सकता है उसके पास उनके प्रयाग की योग्यता चाहिए। एतदर्थ शिक्षा और तज्ञता की आवश्यकता होती है। बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों में सदैव ही योग्य अभियान्त्रिकों की कमी पड़ जाती है। शिक्षा के लिए समय ही नहीं चाहिए अपितु उसमें सहज कुशलता एवं विशेषता के लिए चारों ओर का वातावरण भी सहायक होना चाहिए। अतः देश का प्रौद्योगिकीय स्तर (Technological level) समाज से एकदम असम्बद्ध नहीं होना चाहिए। आज की भारतीय स्थिति में छोटी और सरल तथा कुछ अशों में स्वयंचालित भी, मशीनें ही हमारे उपयुक्त होंगी। यदि इनको आज के काम में आने वाले औजारों और मशीनों से सम्बद्ध कर दिया तथा उनके आधार पर विकसित किया तो प्रशिक्षण का अभाव कभी अनुभव नहीं होगा। आज बड़े-बड़े तकनीकदाओं की ही नहीं, साधारण प्रशिक्षित यान्त्रिकों की भी कमी अनुभव हो रही है। काम दिलाऊ दफ्तरों के एक वृत्त के अनुसार सन् 1956 में सब-ओवरसियरों में 60.3 प्रतिशत, ओवरसियरों में 46.1 प्रतिशत, ड्राफ्ट्समैनो में 42.8 प्रतिशत तथा मेकेनिकों में 41.2 प्रतिशत स्थान आवश्यक प्रशिक्षित व्यक्तियों के अभाव में भरे नहीं जा सके। बड़े-बड़े विशेषज्ञ तो हमें भारी-भारी तनख्वाहों पर विदेशों से ही बुलाने पड़ते हैं। निश्चित ही हमें अपनी प्रौद्योगिकी को अपने अनुकूल बनाना होगा। अन्यथा हम धन व्यय करके भी उससे उत्पादन नहीं बढ़ा सकेंगे।

मशीन

प्रौद्योगिकी का सम्बन्ध मशीन से है। हमें उनका चुनाव विचारपूर्वक करना पड़ेगा। वास्तव में तो इसके चुनाव का परिणाम अन्य सभी उपकरणों पर पड़ता है। यदि योग्य मशीन रही तो हम श्रमिक को श्रमिक की संज्ञा देकर उसे उत्पादक बना सकते हैं अथवा वह केवल उपभोक्ता बनकर रह जायेगा। जो बैल हल के लिए उपयोगी हैं वे ही ट्रैक्टर का प्रयोग करने पर निरर्थक सिद्ध होंगे। साधारण वृद्धि तो यह कहती है कि हम अपने देश में उपलब्ध उत्पादन-उपकरणों के साथ मेल खाने वाली मशीन का प्रयोग करें। श्रम और शक्ति, पूँजी और प्रबन्ध, माल और माँग ये सब मशीन के स्वरूप को निश्चित करने वाले होने चाहिए। मनुष्य ने इनके बदलते हुए स्वरूप के साथ ही मशीन का आविष्कार किया। कहावत है कि 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है।' किन्तु आज कुछ ऐसा हो रहा है कि हम मशीन को ध्रुव मानकर उसके अनुसार शेष सबको बदलने का विचार करते हैं। मशीन के लिए मनुष्य को बदलने पर विवश कर रहे हैं। सम्पूर्ण उत्पादन प्रणाली एक मशीन पर केन्द्रित हो गई है। आविष्कार आवश्यकताओं का निर्माण कर रहे हैं।

पश्चिमी यन्त्रों की अनुकूलता

पश्चिम से जो मशीनें हमें मिली हैं वे उन देशों द्वारा पिछली कई शताब्दियों में विकसित हुई हैं। उनका मानकीकरण करके वे आज बाजार में बँच रहे हैं। हम उन्हें खरीदते हैं किन्तु यह भूल जाते हैं कि वे एक लम्बे आर्थिक विकास का कारण नहीं, उसके परिणाम भी हैं। जिन लोगों के सहारे वे आविष्कृत हुईं एवं आज प्रयुक्त होती हैं उनकी पृष्ठभूमि और परम्परा हमसे भिन्न है। सबसे प्रमुख बात तो यह है कि उनके

सामने काम करने वाले मनुष्यों की कमी थी तथा बाजार बहुत थे। हमारे सामने तो आज मनुष्यों की अधिकता तथा बाजारों की कमी है। हमारी जलवायु भी इन शीतोष्ण देशों की जलवायु से भिन्न है। हमारे यहाँ अभी प्राविधिक शिक्षा का अभाव है। अतः हमें तो ऐसी मशीनें लेनी होंगी जो सरल हों, तथा सबको काम दे सकें। हमने यदि ये बड़ी-बड़ी मशीनें खरीदीं तो हमारे सामने कई समस्याएँ खड़ी होंगी। प्रथम तो यह बहुत मंहगी हैं तथा हमारे वित्तीय साधनों के बाहर हैं। इन्हें एक बार खरीदने के बाद हमें उनके कल-पुर्जों के लिए भी दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ेगा। इतना ही नहीं, उनकी जटिलता के कारण हम जल्दी ही उन्हें अपने देश में पैदा भी नहीं कर पायेंगे। यदि उदाहरण ही लें तो आज हम कपड़ा बुनने की तथा दूसरी प्रकार की कुछ मशीनें पैदा करने लगे हैं। किन्तु हमारे वस्त्र-उद्योग का आग्रह है स्वयंचालित करघे लगाने का। प्रश्न होगा कि क्या हम ये करघे अपने देश में पैदा कर सकते हैं? यदि हम बराबर अपने औद्योगीकरण के लिए विदेश की अद्यतन मशीनों पर निर्भर रहे तो हम कभी आत्म-निर्भर नहीं रह सकेंगे। हमें मशीनों को ही नहीं उसको फिट और ठीक करने वाले भी बाहर से ही बुलाने होंगे। हम यह भूल जाते हैं कि उत्पादन केवल मशीन से ही नहीं होता बल्कि उसके ठीक प्रकार से काम करने और बिगड़ जाने पर जल्दी मरम्मत की सुविधा होने से होता है। विदेशों में ये सब सुविधाएँ उपलब्ध हैं किन्तु भारत में आज स्थिति इससे भिन्न है। अतः मशीन पर हमें तुलनात्मक दृष्टि से बहुत अधिक खर्च करना पड़ता है। फिर इन मशीनों को काम में लाने के लिए और भी कई काम करने पड़ते हैं। हम एक बड़ी मशीन का विचार करते हैं किन्तु जहाँ उसका कारखाना खड़ा होता है वहाँ माल को पहुँचाने तथा अन्य सुविधाओं के लिए हमें कितना व्यय करना पड़ेगा इसका हम विचार नहीं करते। इनके द्वारा आज हमारे पास उपलब्ध धन का हम अधिकतम उपयोग नहीं कर सकते। मशीनों की उत्पादन-क्षमता की इकाई बड़ी होती है तथा वह अविभाज्य रहती है। फलतः जितनी आवश्यकता होती है उससे अधिक क्षमता अधिष्ठापित हो जाती है। यह राष्ट्रीय दृष्टि से धन का अपव्यय है। ये मशीनें श्रम-बचत योजना के अनुसार होने के कारण कुछ लोगों को काम से हटा देती हैं। व्यक्तिगत विचार से कोई उद्योगपति उनकी जिम्मेदारी चाहे अपने ऊपर न समझे किन्तु राष्ट्रीय दृष्टि से तो उनका भरण-पोषण करना ही होगा। अतः जब तक हम उन्हें दूसरी जगह काम न दे सकें तब तक सामाजिक दृष्टि से हमारा मशीनोंपर व्यय अपव्यय ही सिद्ध होगा। समाज को दुहरा खर्च करना होगा। हाँ, यदि हटाए हुए श्रमिकों को दूसरी जगह काम पाने की गुंजाइश और माँग है तो मशीन पर व्यय ठीक कहा जा सकता है।

उपयुक्त मशीन

ये सब ऐसे कारण हैं जो हमारे लिए मशीन का स्वरूप निर्धारण करते हैं। वह निश्चित ही छोटी, सरल, हलकी तथा सस्ती होनी चाहिए। इस प्रकार की मशीनों का हमें विकास करना होगा। वैसे हम दूसरे देशों की ओर भी देखें तो हमें ऐसी छोटी मशीनें भी मिल सकती हैं। वास्तविकता तो यह है कि जब से बिजली का आविष्कार हुआ है, तथा उसे आसानी से वितरित किया जा सकता है, बड़े-बड़े कारखानों और मशीनों की आवश्यकता ही नहीं रही। यदि पश्चिम में वे चल रहे हैं तो उसके कारण ऐतिहासिक हैं। भाप-इंजन के युग में वे स्थापित हो चुके थे, छोटे-छोटे शिल्पी स्वतन्त्र कर्मियों की हैसियत समाप्त करके मजदूर बन चुके थे, अतः बिजली के आविष्कार के बाद भी वे पीछे की ओर नहीं जा सकते थे। बस उन्होंने इतना ही परिवर्तन किया कि भाप की जगह बिजली को काम में लाने लगे। फिर भी अमेरिका में हाल की एक जाँच से पता चला है कि वहाँ छोटी मशीनों और कारखानों की ओर प्रवृत्ति बढ़ रही है। भारत जब

औद्योगीकरण का प्रारम्भ ही कर रहा है, वह क्यों न आधुनिकतम आविष्कारों का लाभ उठावे? उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह 18वीं और 19वीं शताब्दी की ताकतों से अपने आपको बाँध दे।^{***}

मशीन से उत्पादन-क्षमता की वृद्धि

आधुनिक मशीनें एक ओर श्रम-बचत का मध्यम बनकर मनुष्य को बेकार बनाती हैं तो दूसरी ओर श्रम की उत्पादन-क्षमता बढ़ाकर उसे वास्तव में कमकर बनाती हैं। बिना मशीन के यदि मनुष्य बेकार रहता है तो वह कुछ मशीनों के सहारे अर्ध-बेकार भी रहता है। श्रम-अंकशास्त्रियों की नवीं अन्तर्राष्ट्रीय परिषद ने अर्द्ध-बेकारी की यह व्याख्या स्वीकृत की है : “अर्द्ध-बेकारी उस अवस्था को कहेंगे जब—

1. कोई व्यक्ति पूरे समय तक काम नहीं करता तथा यदि उसे अवसर मिले तो वह अधिक काम करने की इच्छा और क्षमता रखता हो,
2. व्यक्ति की आय या उत्पादकता को बढ़ाया जा सके यदि उसकी काम करने की पद्धति और अवस्था को, उसकी व्यावसायिक कुशलता का ध्यान रखते हुए, सुधार दिया जाये।”

पहिले प्रकार की दृश्य अर्द्ध-बेकारी कही जाती है जबकि दूसरी अदृश्य है। अदृश्य अर्द्ध-बेकारी को दूर करने के लिए उत्पादन की प्रणाली में परिवर्तन करना आवश्यक कर दिया जाय तो बढ़ी आय से वह औरों को भी काम दे सकेगा। इसके विपरीत यदि उसकी आय को सीमित रखाजाय तो वह जैसे-तैसे अपना पेट भरता रहेगा। रोटी-कपड़े आदि प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही उसकी सम्पूर्ण आय खर्च हो जाएगी। बचन न होने के कारण न तो वह अन्य वस्तुओं को खरीद सकेगा और न उसके उत्पादनों को कोई काम ही दे सकेगा। अतः एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था को गति देने के लिए मशीनों का प्रयोग कर मनुष्य की उत्पादकता बढ़ाना नितान्त आवश्यक है।

मशीन की बेकारी

किन्तु मशीन के प्रयोग से जब मजदूरों की छटनी होती है तथा वे बेकार होकर समाज पर भार बन जाते हैं, तो फिर से खेती में लगाकर खेती का विपणनीय अतिरेक कर देते हैं तो एक ओर गल्ले का दाम बढ़ जाता है तथा दूसरी ओर किसान की मशीनों से बने माल की माँग कम हो जाती है। जिन मजदूरों की इस प्रकार आमदनी प्रारम्भ में बढ़ती है, उन्हें गल्ले के लिए अधिक देने के कारण उनके पास बाकी माल खरीदने के लिए पहिले जितना ही और कई बार उससे भी कम बचा रहता है। दूसरे, माँग के कम होने के कारण उन्हें भी अधिक उत्पादकता होने के बाद भी उत्पादन माल की कम खपत होने से अपना उत्पादन कम करना पड़ता है। इस प्रकार वे एक प्रकार से दृश्य रूप से अर्द्ध-बेकार हो जाते हैं। काम के घण्टे कम हो जाते हैं, काम की पारियाँ कम करनी पड़ती हैं। अतः मशीन के सुधार के कारण जब छटनी होती है तो उससे अर्थ-व्यवस्था में प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है।

^{***} “a strong case for small industries has been made out by the fact that new technological developments like automatic machinery, synthetic alloys, die-casting, small scale precision instruments and the developments in power distribution have reduced the technological disadvantages of small scale production.”

मशीन की मर्यादाएँ

उपर्युक्त कारणों से आज देश में जहाँ एक ओर मशीन के श्रद्धालु भक्त हैं तो दूसरी ओर कट्टर दुश्मन भी मौजूद हैं। एक मशीनों के अभिनवीकरण के अभाव को ही भारत की गरीबी का कारण मानकर चलते हैं। तो दूसरे अभिनवीकरण और यन्त्रीकरण को ही देश के विनाश के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं। वास्तव में मशीन न तो मनुष्य का शत्रु है और न मित्र। वह एक साधन है तथा उसकी उपादेयता समाज की अनेक शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया पर निर्भर करती है।

किसी भी नई मशीन के कारण अर्थ-व्यवस्था को गति प्राप्त हो सकती है यदि :

1. बढ़ी हुई उत्पादकता से प्राप्त आय का श्रमिकों और पूँजी लगाने वालों में ठीक-ठीक वितरण हो सके;
2. इस आय का कुछ न कुछ अंश वित्तसंचय तथा उपभोग दोनों के काम आये;
3. देश में पूँजी-निर्माण की गति इतनी हो कि नई मशीनों के खरीदने में व्यय करने के बाद भी वह इतनी बच रहे कि केवल छटनी किये हुए मजदूरों को ही नहीं, अन्यो को भी काम देने के लिए उद्योग-धन्धे प्रारम्भ किये जा सकें।^{†††}

पूर्ण रोजगार से क्रयशक्ति में वृद्धि

यदि हम इन बातों का ध्यान रखेंगे तो देश में विभिन्न प्रकार के माल के लिए प्रभावी माँग में कमी नहीं होगी। यदि वह बराबर बढ़ती गई तो औद्योगीकरण भी तेजी से बढ़ता जायेगा। प्रभावी माँग को बढ़ाने का प्रथम एवं आवश्यक मार्ग है क्रय-शक्ति को बढ़ाना। उत्पादन की लागत कम करना दूसरा तरीका है। यदि देश की क्रय-शक्ति बढ़े बिना ही उत्पादन-व्यय कम हो गया तो उसका लाभ व्यक्तिगत उत्पादक को दूसरों की प्रतिस्पर्धा में समय-विशेष के लिए हो सकता है किन्तु देश को नहीं होगा। क्रय-शक्ति को बनाये रखने के लिए ही सम्पूर्ण रोजगार (Full employment) की व्यवस्था आवश्यक हो जाती है। सर विलियम वीवरिज ने तो यहाँ तक कहा कि : “लोगों को बेकार रखने के बजाय उन्हें गड़ढ़ा खोदने और उसे फिर से भरने का काम देकर रखना अच्छा है। जो इस प्रकार बेकार का काम करते हैं वे कम से कम कमाये धन का व्यय करके दूसरों को तो काम में लगाये रखेंगे”, इसी विचार से पुराने जमाने में अकाल आदि के समय शासन भवन-निर्माण आदि के कार्य प्रारम्भ करके लोगों को काम देता था। कहा जाता है कि लखनऊ के इमामबाड़े को बनाते समय यही व्यवस्था थी कि दिन भर दीवारें चुनी जाती थीं तथा रात्रि को उन्हें गिरा दिया जाता था। जो लोग शर्म के कारण दिन में काम नहीं करते थे। वे रात्रि को केवल ईंट हटाने का काम करते थे। व्यापक सार्वदेशिक दृष्टि से अभिनवीकरण की जो योजना पूरे काम की व्यवस्था के विपरीत जाय उचित नहीं कही जा सकती। किन्तु यह भी सत्य है कि बेकारी के भय से हम बिल्कुल ही पुरानी मशीनों से चिपके नहीं रह सकते। विशेषकर छोटे और स्वतन्त्र उद्योगों में नई मशीनों के प्रवेश की बहुत गुंजाइश है। वहाँ बेकारी का भय नहीं; बल्कि इस प्रकार उत्पादकों की क्षमता और आय में वृद्धि हो सकेगी।

^{†††} The workers have good logic behind them when they oppose measures of retionalisation and technical changes. it is not proper to delude them with the thesis of self-compensation. The latter does not function except in the context of a vigorously growing economy in which the maximum rate of accumulation that is possible is being obtained.

सर्वतोमुखी वैज्ञानिक

अदृश्य अर्द्धबेकारी को दूर करना हितावह है किन्तु वह कितनी मात्रा में विद्यमान है इसका अन्दाजा लगाना सरल नहीं। साधारणतया हम भारत के किसी भी श्रमिक की उत्पादकता और आय की तुलना पश्चिम के देशों से करके विद्यमान अन्तर के आधार पर उसके अर्द्ध-बेकार ठहरा देते हैं। वास्तव में तो हमें यह तुलना समान परिस्थितियों में काम करने वाले एक औसत व्यक्ति की आय और उत्पादकता से करनी होगी। हमें यह भी विचार करना होगा कि पश्चिम में श्रम की कमी होने के कारण प्रतिव्यक्ति अधिकतम उत्पादन ही उनका एकमेव लक्ष्य है। किसी भी देश में दुर्लभ उपादान की अधिकतम उपयोगिता ही अर्थोत्पादन-प्रणाली का आधार होता है। हमारे यहाँ पूँजी दुर्लभ है। अतः हमें पूँजी की प्रति इकाई की अधिकतम उत्पादकता प्राप्त करनी होगी। हम यदि सर्वांगीण दृष्टि से विचार करें तो हमें वह स्तर ढूँढना होगा जिस पर सभी उत्पादन-उपकरणों के समुच्चय की सीमान्त उपयोगिता हमारे लिए अधिकतम हो। इस विचार से केवल मशीन में ही नहीं, उत्पादन की पद्धति में अन्य प्रकार से परिवर्तन करके भी हम उत्पादकता बढ़ा सकते हैं। हमें प्रबन्ध और व्यवस्था, पूँजी और पण सबका वैज्ञानिकन करना होगा। काम करने का स्थान और समय, पद्धति और प्रक्रिया इनमें बहुत कुछ सुधार की गुंजाइश है। जापान ने इस प्रकार उत्पादकता में भारी वृद्धि की है। किसी बाँध को बनवाने में एक हजार मजदूरों की जगह मशीन का उपयोग करके किफायतशारी करने के बजाय भारी खर्च वाले प्रशासन में भी बचत की जा सकती है। योजना आयोग का अनुमान है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत 1500 करोड़ रुपये के भवन-निर्माण कार्यक्रम में कम से कम 100 करोड़ रुपये की बचत सहज ही की जा सकती है। उद्योगों में इस प्रकार के सुधार से क्रय-शक्ति को कम किये बिना ही उत्पादन-व्यय को कम किया जा सकेगा।

शक्ति

यद्यपि आजकल अणु और सौर-शक्ति की चर्चा की जाती है किन्तु मनुष्य, पशु, भाप, तेल और बिजली यही मशीनों को चलाने की प्रमुख शक्तियाँ हैं। पानी और हवा का उपयोग भी नहीं के बराबर है। हाँ, पानी से बिजली पैदा कर उसका उपयोग अवश्य किया जा सकता है। भारत में पेट्रोल की तो अभी खोज ही हो रही है किन्तु शेष शक्तियाँ पयाप्त मात्रा में उपलब्ध की जा सकती हैं। किसका कहाँ उपयोग करना इसका हमें प्रत्येक विषय में अलग-अलग निर्णय करना होगा। कोई एक नियम बनाकर उसके पक्ष में निर्णय देना हितावह नहीं होगा। ऐसे बहुत से उद्योग हैं जहाँ आज भी मानव-शक्ति का ही उपयोग हो सकता है। हस्त कौशल और कला की जहाँ गुंजाइश है वहाँ औजारों को चलाने के लिए बिजली नहीं लगाई जा सकती। हम स्वयंचालित करघे की उपयोगिता प्रतिपादित कर सकते हैं फिर भी काफी बड़ा क्षेत्र ऐसा रहेगा जहाँ हमें हाथ-करघे का ही सहारा लेना पड़ेगा। कुछ ऐसे भी काम हैं जो मनुष्य-शक्ति के साथ आज बिजली या भाप से चलाने वाली मशीनों से होने लगे हैं जैसे धान कूटना, आटा पीसना, दवाइयाँ बनाना, तेल निकालना आदि। किन्तु इन मशीनों के प्रयोग में हम कितना उपयोगी तत्व नष्ट कर देते हैं इसका हमें विचार करना होगा। माल ढोने और दांय चलाने, कोल्हू पेरने आदि के लिए पशु-शक्ति के स्थान पर मशीनों की शक्ति काम में लाई जा सकती है किन्तु हमें उसकी मर्यादाएँ ध्यान में रखनी होंगी। अपने पशुधन का अधिकतम उपयोग करने के बाद ही हमें पर्यायों की ओर दौड़ना चाहिए।

उपर्युक्त मर्यादाओं के अधीन हमारा औद्योगीकरण विशेषतः विद्युत शक्ति को आधार बनाकर चल सकता है। जल-विद्युत्-उत्पादन की अनेक योजनाएँ शासन ने हाथ में ली हैं। उन्हें और भी आगे बढ़ाया जा सकता है। गोबर से गैस तथा बैल के श्रम से बिजली पैदा करने के भी प्रयोग हुए हैं। उनकी विकास

की सम्भावनाओं की खोज की जा सकती है। किन्तु सर्वाधिक बल हमें गाँव-गाँव में तथा छोटे-छोटे कस्बों में बिजली पहुँचाने पर देना चाहिए। हमें यह भी देखना चाहिए कि इसका मुख्यतः उपयोग औद्योगिक कार्यों के लिए हो। आज बिजली से रेल चलाने की योजनाएँ बनाई जा रही हैं। देश के कोयले को बचाने की दृष्टि से यह आवश्यक है। किन्तु यदि उद्योगों की बिजली की माँग को बिना पूरा किए हुए उसे रेल चलाने में लगाया तो वह गलत अर्थ-नीति होगी।



9. पूँजी और प्रबन्ध

बचत की योजना

आर्थिक विकास एवं औद्योगीकरण के लिए पूँजी का प्रश्न सर्वाधिक महत्व का है। पूँजी के लिए बचत चाहिए जो कि उत्पादन और उपभोग का अन्तर है। राष्ट्रीय दृष्टि से जिस देश का उपभोग-स्तर बहुत नीचा हो वहाँ बचत सम्भव नहीं होता। बिना बचत के उत्पादन नहीं बढ़ता। कम उत्पादन से अधिक उपभोग कैसे मिलेगा? यह एक दुश्चक्र है जो चलता रहता है। इससे निस्तार के साधारणतया दो मार्ग सुझाये जाते हैं: 1. राष्ट्रीय आय का असमान वितरण करके कुछ लोगों में बचत की सामर्थ्य उत्पन्न करना, 2. विदेशों से पूँजी आयात करना। असमान वितरण से समाज में विषमता उत्पन्न न हो अतः राज्य के हाथ में ही पूँजी-निर्माण और उपयोग के अधिकार सौंप दिये गये। वह कराधान, मुल्य एवं मुद्रा-नीतियों से जनसाधारण को राष्ट्रीय आय में से उनके न्यायोचित अंश से वंचित रखता है। न्यायोचित पूँजीवादी पद्धति में कुछ व्यक्ति, मूल्य, पारिश्रमिक, साख सम्बन्धी नीतियों और पण एवं संस्थाओं के नियंत्रण के द्वारा सामान्य जन की आय का एक अंश अपने पास रखकर उसे पूँजी के रूप में लगाते हैं। दोनों पद्धतियों से यद्यपि देश का विकास होता जाता है किन्तु पूँजी के स्वामित्व के कारण आर्थिक सामर्थ्य, राज्य अथवा उद्योगपतियों के हाथों में केन्द्रित होता जाता है। साथ ही उपभोग में व्यक्ति को विवशतापूर्वक कमी करनी पड़ती है अतः वह अन्दर ही अन्दर कूढ़ता रहता है। उसकी आत्मा एक दबाव का अनुभव करती है। इस कठिनाई से बचने का एकमेव मार्ग है सामान्य नागरिक में बचत की सामर्थ्य और इच्छा पैदा करना। राष्ट्रीय आय की अभिवृद्धि में हमें उसे सहभागी बनाना चाहिए। संयम का भाव इस दिशा में भारी काम करता है। भारत की संस्कृति इसमें विशेष रूप से सहायक सिद्ध हो सकती है। किन्तु हमने राजनीतिक कारणों तथा पश्चिम की कल्पनाओं का अनुसरण कर उपभोग-प्रवणता बड़ी तेजी से उत्पन्न की है। पश्चिम की समस्या पूँजी एवं उत्पादन के साधनों के खोज की नहीं बल्कि उनका पूरा-पूरा उपयोग होता रहे यह है। हमारे सामने प्रथम प्रश्न है पूँजी और साधन जुटाने का जिससे अपनी मांग को पूरा करने का सामर्थ्य जुटा सकें। अतः यहाँ कीन्स का अर्थशास्त्र उपादेय नहीं होगा।

पूँजीकरण का मार्ग

संयम से जो बचाया है उसका भावी उत्पादन के लिए विनियोग किये बिना वह पूँजी नहीं बनेगी। यदि बचाने वाले के सामने पूँजी-विनियोग के आधिकाधिक मार्ग खुले हों तो वह अधिक बचाने का प्रयास करेगा। इसके लिए आवश्यकता है उद्योग-धन्धों के व्यापक प्रसार तथा ऋण और अधिकोषण की अच्छी व्यवस्था की। यदि हम कृषक की आय बढ़ाना चाहते हैं तो हमें उसके सदुपयोग की भी साथ ही व्यवस्था करनी होगी, अन्यथा वह मुकदमें, भोज और प्रतिष्ठा सम्बन्धी अनेक अनावश्यक कामों में खर्च हो जायेगी, या सोना और जमीन-जायदाद खरीदने के काम आयेगी। देश में सोने की मांग तथा उसका तस्कर व्यापार यह सिद्ध करता है कि जिनके पास पैसा है वे उसका विनियोजन योग्य मार्ग से नहीं कर पा रहे हैं। छोटे उद्योग स्वयं वित्त-संचय में भारी योगदान दे सकते हैं। शासन की कोई उल्लेखनीय सहायता न होने पर भी देश में छोटे उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीय आय में योगदान सदैव ही अधिक रहा है। कृषि की आय के साथ उनका सम्बन्ध निम्न तालिका से स्पष्ट प्रकट होता है:

कुछ औद्योगिक स्रोतों से भारत की राष्ट्रीय आय (रु0 करोड़)

	कृषि, पशुपालन तथा तत्सम्बन्धी कार्य	कारखाने	छोटे उपक्रम
1955-56	4410	780	970
1954-55	4230	750	960
1953-54	5200	690	980
1952-53	4710	640	970
1951-52	4910	640	950
1950-51	4780	550	910

यह हम जानते हैं कि छोटे उपक्रमों की वास्तविक आय कृतना कठिन है। उनमें बहुत-सा क्षेत्र ऐसा है जो अंक-विशेषज्ञों की पहुँच के बाहर है।

पूँजी का सही उपयोग

आज यदि हम बड़े उद्योग-धन्धों के पक्ष में निर्णय लेकर इन छोटे उद्योगों को अपने भाग्य पर या पिछड़ा हुआ कहकर विनाश-योग्य समझ कर छोड़ दें तो निश्चित ही हमारी बहुत-सी पूँजी बेकार चली जाएगी। पुनःसंस्थापन (Replacement) तथा अभिनवीकरण (Rationalisation) के नाम पर विस्थापन (Displacement) तथा वि-पूँजीकरण (Decapitalisation) योग्य नहीं होगा।

भारत में पूँजी की कमी होने के कारण हमें ऐसे उद्योग छाँटने होंगे जो पूँजी-प्रधान न हों तथा श्रम प्रधान हों। श्री पी० एस० लोकनाथन् ने 1943 में यह निष्कर्ष निकाला था कि 100 रु० के मूल्य का कपड़ा उत्पादन करने में बड़ी मिलों में 1846 रु० तथा 1.54 श्रमिक, स्वयंचालित करघे पर 1125 रु० तथा 12.5 श्रमिक तथा हाथ-करघे पर 778 रु० तथा 22.2 श्रमिक लगेंगे।

निश्चित ही हाथ-करघा और स्वयंचालित करघा हमारे लिए सर्वाधिक उपयुक्त रहेंगे। स्वयंचालित करघे को यदि लक्ष्य रखकर चला जाय तो हम हाथ-करघों को धीरे-धीरे उनमें बदल सकते हैं। अन्य उद्योगों के सम्बन्ध में भी देश की वित्तीय अवस्था को देखते हुए यही नीति अपनानी होगी।

विदेशी पूँजी

देश में पूँजी की कमी को विदेशी पूँजी से पूरा करने का भी सुझाव दिया जाता है और आज हम भारी मात्रा में बाहर से विभिन्न रूपों में पूँजी मँगा भी रहे हैं। विदेशी पूँजी के यदि राजनीतिक पहलू छोड़ भी दिये जायें तो आर्थिक दृष्टि से भी वह एक अंश तक ही उपादेय होती है। 'पूँजी' शब्द से जनसाधारण को कल्पना इतनी ही होती है कि हमें धन मिल जाएगा जिसे हम अपनी दृष्टि से उपयोग कर सकेंगे। वास्तविकता यह नहीं। विदेशी पूँजी को हमें विदेशों में ही खर्च करना होता है, अतः वह घर की बचत का

पर्याय नहीं बन सकती। घर में बचत को जब हम पूँजी के रूप में प्रयोग करते हैं तो हम केवल जिन उद्योगों में पूँजी लगाते हैं उनमें ही लोगों को रोजगार नहीं देते बल्कि जिन मशीनों और साधनों पर पूँजी खर्च करते हैं उनके बनाने वालों को भी रोजगार देते हैं।

औद्योगीकरण पर प्रभाव

विदेशी पूँजी तीन प्रकार से प्राप्त हो सकती है : 1. वैयक्तिक उद्यमियों से 2. अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से 3. विदेशी सरकारों से। इनका यह सहयोग ऋण देकर अथवा भागीदार बन कर हो सकता है। देश में या तो वे स्वतन्त्र रूप से कोई उद्योग प्रारम्भ करें अथवा सरकार या निजी क्षेत्र के उद्यमियों के साथ सहयोग करें। इन सभी सम्भव विकल्पों में आधारभूत बात यह है कि जिन मशीनों और साधनों पर वह रुपया हम बाहर खर्च करेंगे वे हमारे देश के लिए उपयोगी हैं या नहीं इसका हम निर्णय नहीं कर सकेंगे। इतना ही नहीं, हमें विदेशों की प्रौद्योगिकी स्वीकार करनी होगी। विदेशी तज्ञ एवं उद्योगपति अपने देश में प्रचलित एवं उपलब्ध तकनीकी और मशीनों को लेकर ही यहाँ उत्पादन करेंगे। यह देश के आज तक के औद्योगीकरण को कुछ पग आगे बढ़ा सकता है। किन्तु एक ऐसे विकासशील उद्योग की नींव नहीं रख सकता, जिसकी नींवें जमीन में गहरी जमीं हों। यदि हम छोटे उद्योगों को अपना आधार बनाना चाहें तो उसके लिए न तो विदेशी पूँजी ही मिलेगी और न विदेशी उद्योगपति ही यहाँ आने को उत्सुक होंगे। यहाँ तो वे बड़े-बड़े पूँजीपति गुट ही आ सकते हैं जिन्होंने अपने औद्योगिक साम्राज्य खड़े कर लिए हैं। हम उनका देश के कुछ उद्योगपतियों अथवा सरकार के साथ गठबन्धन कर सकते हैं जैसा कि बिड़ला-नफील्ड, टाटा-इम्पीरियल केमिकल, टाटा-बेंज, सेन-रेले आदि का निजी-क्षेत्र में तथा सरकार के साथ विभिन्न संयोजनों और सरकारों का इस्पात एवं अन्य उद्योगों में हो रहा है। किन्तु एक ओर ये भारी, आधुनिकतम तकनीकीयुक्त तथा सर्वसाधन सम्पन्न उद्योग और दूसरी ओर अनेक सीमान्त इकाइयाँ कैसे एक साथ चल सकेंगी? फिर इन कुछ क्षेत्रों में ही नहीं, विदेशी पूँजी उपभोग-वस्तुओं के क्षेत्र में भी प्रवेश करेंगी। आज भी जूट और बागानों पर उनका प्रभुत्व है। साबुन और माचिस, सिगरेट, बिजली का सामान, पेट्रोलियम, रबर के सामान आदि में उन्होंने इतना प्रभाव जमा रखा है कि छोटे उद्योगों का तो प्रश्न ही नहीं बड़े उद्योगपति भी उनके सामने टिक नहीं पाते। उद्योग-रक्षा आयोग (1949-50) में लिखा था : "बड़े उद्योगों के जिस ढाँचे की हम कल्पना करते हैं वह अमेरिका और इंग्लैण्ड की अत्यधिक पूँजीप्रचुर तथा भारत की प्रमुखतया ग्राम अर्थ-व्यवस्था के मध्य में होगा।" क्या विदेशी पूँजी से बनने वाला औद्योगिक ढाँचा इस कल्पना को साकार कर सकेगा?

विदेशी पूँजी के प्रकार और उनका तौलनिक महत्व

विदेशी पूँजी ऋण अथवा स्वामित्व दोनों रूप में आ सकती है। पहिले प्रकार में यह कठिनाई है कि उसको 1. ब्याज सहित लौटाना पड़ता है जो कि विशेषकर मन्दी एवं प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन के दिनों में भारी कठिनाई उत्पन्न करता है, 2. यदि उसका उपयोग आवश्यक अचलपूँजी या उपभोग वस्तुओं की प्राप्ति में नहीं किया गया तो केन्द्रीय बैंक की विदेश निधि में वृद्धि करके आन्तरिक मुद्रास्फीति की स्थिति पैदा हो जाती है, 3. इसके साथ उद्योगों के प्रबन्ध एवं तकनीक का ज्ञान देश में आना आवश्यक नहीं।

प्रत्यक्ष पूँजी

प्रत्यक्ष पूँजी के साथ आवश्यक प्रबन्ध, युक्तिकरण, तज्ञता एवं अचल साधन भी उपलब्ध हो जाते हैं। किन्तु इसका सबसे बड़ा दोष है निहित स्वार्थों का विकास जो देश के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। पेट्रोल के उत्पादन और परिशोधन में लगी पूँजी पश्चिम एशिया के देशों की राजनीति को सुस्थिर नहीं होने देती। देश के प्राकृतिक साधनों का दोहन भी यह पूँजी, मितव्ययिता के साथ न करके अपने हितों में ही करती है। प्रबन्ध और नियन्त्रण तथा ऊँचे एवं महत्व के सभी स्थान विदेशियों के हाथ में रहते हैं। लाभ के पुनर्विनियोजन के कारण विदेशियों की सम्पत्ति बढ़ती ही जाती है, जबकि वास्तविक पूँजी का आयात कम ही होता है। रिजर्वबैंक के अनुसार सन् 1956 में कुल निजी-विदेशी पूँजी का आयात 24.3 करोड़ रुपये था। इसमें 17.9 करोड़ रुपया लाभ में से पुनर्विनियोजन, 3.2 करोड़ रुपया नकद तथा 9.6 करोड़ रुपये वस्तुओं के रूप में थे। अनुमान लगाया गया है कि 1840 से 1914 तक अमेरिका ने 300 करोड़ डालर विदेशों से उधार लिया जबकि इसी बीच उसने ब्याज और लाभांश के रूप में 580 करोड़ डालर चुकता किये।^{***} ब्रिटेन 1870 से 1913 तक विदेशों में विनियोजन से आय एवं पूँजी के निर्यात का वार्षिक औसत इस प्रकार था :

सन्	करोड़ पौण्डों में आय	निर्यात
1870-75	4.8	5.5
1876-80	4.9	.1
1881-93	7.5	4.8
1894-1904	10	2.4
1905-1913	15.5	14.3

इसी आधार पर जेवन्स ने लिखा कि : “ब्रिटेन का अनुभव यही स्पष्ट करता है कि थोड़े दिनों में पूँजी निर्यातक देश अपने विनियोजन को आय के पुनर्विनियोजन से ही बनाये रख सकता है।” बाहरी पूँजी से मुक्ति की तब तक आशा नहीं करनी चाहिए जब कि कोई विशेष स्थिति ही न उत्पन्न हो जाये। अमेरिका ने अपना विकास तब किया जब बाहर से पूँजी आना 1914 के बाद बन्द हो गया। भारत भी लड़ाई के जमाने में जबकि बाहर से रुपया और मशीनें तथा औद्योगिक कच्चा माल प्रायशः आ ही नहीं पाता था, एक कर्जदार से साहूकार देश बन गया। यदि हमारे संचित पौण्ड पावने में से लड़ाई का खर्चा निकाल भी दिया जाये तो भी हमने बहुत कुछ अपने उद्योगों के विकास एवं उत्पादन की वृद्धि एवं निर्यात से कमाया था।

भारत में विदेशी पूँजी

हमें विदेशी पूँजी को आधार बनाकर कभी उद्योगों का विचार नहीं करना चाहिए। राष्ट्रीय योजना समिति ने इस सम्बन्ध में यही प्रस्ताव किया था कि :

1. हमारी कृषि, खानों और उद्योगों में विदेशी पूँजी के विनियोजन का परिणाम देश के आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन का प्रभुत्व की प्रतिष्ठापना तथा राष्ट्रीय विकास को कुण्ठित करने में हुआ;

^{***} John Knapp : Capital Export and Growth.
The Economic Journal Vol LK VII Spet.57

2. इसके उपरान्त विदेशी पूँजी को राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों पर प्रबन्ध और स्वामित्व के अधिकार न दिये जायें;
3. देश की पूँजी की आवश्यकता के लिए केवल राज्य के द्वारा ऋण के रूप में विदेशी पूँजी स्वीकृत की जाये;
4. कानूनी "व्यापारिक सुविधाएँ समाप्त की जायें" तथा
5. भारत में कुछ महत्वपूर्ण उद्योगों पर विदेशी हितों को उचित क्षतिपूर्ति देकर राज्य हस्तगत कर ले।"

1922 के फिस्कल कमीशन में भी अल्पमत की ओर विमतिपत्र देते हुए भारत के प्रतिनिधियों ने विदेशी पूँजी को सुविधा देने का विरोध किया था।

भारत की हाल की नीति इन सब भावनाओं के विरुद्ध है। अब शासन विदेशी पूँजी के स्वागत की हर प्रकार से तैयारी कर रहा है। शासन की इस नीति का परिणाम यह हुआ है कि भारत अब फिर कर्जदार बन गया है। भारत की देन-लेन की स्थिति दिसम्बर 1957 के अन्त तक निम्न प्रकार थी :

भारत की कुल विनियोजन स्थिति

(करोड़ रुपयों में)

	देयता		परिसम्पत्ति		निवल स्थिति	
	1956	1957	1956	1957	1956	1957
निजी	506	555 ^{§§§}	—	—	(-) 506	(-)555
बैंक	61	48	52	62	(-) 9	14
सरकारी	220	455	955	725	735	270
कुल	787	1058	1007	787	220	(-) 271

दिसम्बर 1957 के अन्त में भारत 271 करोड़ रुपये के लिए देनदार था। सरकारी परिसम्पत्ति में वे 300 करोड़ रुपये भी सम्मिलित हैं जो पाकिस्तान से विभाजन की अवस्था के अनुसार भारत द्वारा अविभक्त भारत की सम्पूर्ण देयता स्वीकार करने के कारण, लेने हैं। पाकिस्तान की वर्तमान नीति में वह एक सन्देहास्पद परिसम्पत्ति ही है। जुलाई 1948 से दिसम्बर 1957 तक हमारी लेनदारी में 1800 करोड़ रुपये की कमी हुई है। निजी क्षेत्र में देनदारी 30 जून 1947 को 260 करोड़ रुपये से बढ़कर 1957 के अन्त में 550 करोड़ रुपये हो गई जबकि सरकारी क्षेत्र में हमने 1500 करोड़ रुपये की निवल परिसम्पत्ति परिसमाप्त कर दी।

विदेशी पूँजी की आवश्यकता का प्रतिपादन कुछ भारी उद्योगों, जनोपयोगी सेवाओं तथा उद्योगों के विकास के हेतु किया जाता है। किन्तु किसी भी स्वतंत्र देश में निजी क्षेत्र को इनमें प्रवेश की अनुमति नहीं दी जाती और न कोई विदेशी उनमें सहज प्रवेश ही करना चाहेगा, कारण वे आशु फलदायी नहीं होते। वास्तव में तो अनेकदा विदेशी पूँजी इन प्राथमिक सेवाओं के विकास की बाट देखते हुए शान्त बैठी रहती है।

^{§§§} अनुमानित

स्रोत : रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन : सितम्बर 1958

बहुधा शासन को ही अपनी जिम्मेदारी पर इस ओर पग बढ़ाना पड़ता है। 1948 से 1956 तक विदेशी पूँजी का विनियोजन किसी प्रकार हुआ यह निम्न सारिणी से स्पष्ट हो जायेगा:

उद्योगानुसार विदेशी विनियोजन (करोड़ रुपयों में)

के अन्त में	जून 1948	1953	1955	1956
निर्माण				
खनिज तैल एवं उत्पादन	1.01	9.69	28.41	35.46
बिजली का सामान	4.77	12.01	14.63	15.78
दियासलाई	1.73	3.22	2.29	2.34
सिगरेट और तम्बाकू	6.17	25.65	24.94	25.03
औषधियाँ	.45	5.53	7.65	8.29
लोहे एवं इस्पात का सामान	5.48	6.68	9.43	18.53
खाद्य वस्तुएँ तथा वनस्पति	1.82	3.97	3.22	3.22
अन्य	50.52	68.97	72.75	77.36
व्यापार				
खनिज तैल एवं उत्पादन	21.32	67.40	75.50	80.53
लौह और इस्पात उत्पादन	3.62	.69	.89	1.02
जूट एवं नारियल का सामान	2.64	.82	.48	.59
खाद्य एवं वनस्पति	3.49	.58	1.19	1.20
अन्य	33.28	25.29	14.24	26.25
जनोपयोगी सेवाएँ एवं परिवहन	31.23	50.54	53.05	59.51
उत्खनन	11.46	8.38	9.62	10.83
वित्तीय	6.87	10.70	28.53	28.14
बागान				
चाय	50.31	70.17	86.26	87.58
अन्य	1.94	1.33	.94	.64
विविध				
प्रबन्ध अभिकरण	14.40	26.20	24.62	22.92
अन्य	3.32	1.52	1.27	1.07
कुल योग	17.72	27.72	25.89	23.99

विदेशी पूँजी और भारतीयकरण

विदेशी पूँजी के एकाधिपत्य एवं दुष्प्रभावों से बचने तथा साथ ही उसका उपयोग करने की दृष्टि से देशी और विदेशी पूँजी का गठबन्धन तथा देशी प्रबन्ध एवं तज्ञों के प्रशिक्षण की शर्त के साथ विदेशी पूँजी के प्रवेश की व्यवस्था की जाती है। इसमें वह एक केटेलिटिक एजेण्ट का काम करके देशी पूँजी को सक्रिय बना देती है। किन्तु भारत में इस ओर भी कोई प्रगति नहीं हुई। कुछ विदेशी मालिकों ने राष्ट्रीय भावनाओं का लाभ उठाने के लिए अपने साथ कुछ भारतीय उद्योगपतियों को अवश्य साझीदार बना लिया है, किन्तु नियंत्रण और प्रबन्ध सभी में अभी तक विदेशों का ही प्रभुत्व है। प्रशिक्षण की भी कोई व्यवस्था नहीं की गई

है। कुछ दिनों से तो विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में जो उत्सुकता और प्रेम प्रदर्शित किया जाने लगा है उसके परिणामस्वरूप भारतीयकरण की जो थोड़ी बहुत प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी वह भी उलट गई है। 1 जनवरी 1956 को विदेशी फर्मों और कारखानों में काम करने वाले भारतीयों एवं अभारतीयों की क्या स्थिति थी इसका अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है :

विदेशी कारबारों में कर्मचारियों की संख्या 1-2-1956 को

कारबार	प्राविधिक		प्राबन्धिक	
	भारतीय	अ-भा0	भारतीय	अ-भा0
आटोमोबाइल्स	7	14	17	10
रसायन एवं तत्सम्बन्धी	174	164	321	176
मशीन एवं अभियान्त्रिकी	478	649	366	247
चमड़ा एवं रबर	99	79	144	42
जनोपयोगी सेवाएँ	85	44	25	11
मैनेजिंग एजेंसी कं0	62	141	386	512
कपड़ा मिलें तथा प्रेसैं	79	95	36	40
जूट मिलें तथा प्रेसैं	68	364	25	153
बागान एवं तत्सम्बन्धी	36	271	164	966
तेल कम्पनियाँ	223	266	286	215
खनिज	66	123	38	30
कुल अन्धों को मिलाकर	1908	2855	2777	3711

स्पष्ट है कि भारतीयों को महत्त्व के स्थानों पर न तो रखा जाता है और न उन्हें प्रशिक्षित करने की व्यवस्था की जाती है। मैनेजिंग एजेंसियों में गैर-भारतीयों की भारी संख्या इस बात का द्योतक है कि सब प्रकार का नियंत्रण उन्हीं के हाथों में है। जूट और बागान पर तो उनका एकाधिकार ही है। जहाँ भारतीयों ने बागान खरीदे हैं वहाँ उनकी व्यवस्था और प्रविधि, विधायन और व्यापार सब विदेशियों के हाथ में है। वेतन का यदि विचार करें तो 1500 रु0 से 3000 रु0 तक की ग्रेड में प्राविधिक कर्मचारियों में 31.2 प्र0 श0 भारतीय तथा 68.8 प्र0श0 अभारतीय तथा प्रबन्ध में 36.1 प्रतिशत भारतीय एवं 63.9 प्रतिशत अभारतीय हैं। किन्तु 3000 रु0 से ऊपर तनखाह पाने वालों में भारतीयों का प्रतिशत केवल प्रविधि में 7.2 प्रतिशत तथा प्रबन्ध में 11.4 प्रतिशत है। व्यक्तियों तक ही नहीं, इन उद्योगों के कार्यक्रम का निर्धारण भी भारत की योजना और आवश्यकता के अनुसार नहीं बल्कि बाहर के हितों के अनुसार होता है। अफ्रीका में चाय की खेती प्रारम्भ करने के कारण चाय बागान के मालिकों ने भारत में पुनरारोपण की ओर दुर्लक्ष्य प्रारम्भ कर दिया है। बिड़ला-नफील्ड एवं अन्य जो हाल ही में गठबन्धन हुए हैं उनमें एकत्रीकरण के अतिरिक्त उत्पादन की ओर वह भी टेक्नीकल पुर्जों की कोई आवश्यकता नहीं। उसका कार्यक्रम विदेशी सहयोगियों के हाथ में ही है। औद्योगीकरण का यह कार्यक्रम शासन को तटकर से वंचित कर उसका कुछ भाग देश के उद्योगपतियों और मजदूरों में बाँटने के अतिरिक्त अन्य दूरगामी महत्त्व का नहीं। देश में बढ़ते हुए आयात के बाद भी

आयात-कर में समानुपातिक वृद्धि का अभाव इसी तथ्य का द्योतक है। पिछले छह वर्षों के आंकड़े इस प्रकार हैं।

(करोड़ रु०)

	1953-54	1954-55	1955-56	1956-57	1957-58
आयात	591.8	683.8	761.4	1095.6	1147.8 ^{****}
आयात-कर	119.60	141.06	127.98	140.52	153.7 ^{††††}
प्रतिशत	20.2	20.6	16.8	12.8	13.1

भारतीय उद्योगपतियों का विदेशी पूँजी से चलने वाले उद्योगों में कितना हाथ है इसका अन्दाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि दिसम्बर 1956 के अन्त में जो 506.30 करोड़ रुपये की विदेशी पूँजी भारत में लगी थी उसमें से 428.99 करोड़ रुपये प्रत्यक्ष विनियोजन (Direct investment) तथा 77.31 करोड़ रुपया पत्रोद्धह (portfolio) विनियोजन के रूप में तथा विदेशी कम्पनी की शाखाओं में 276.39 करोड़ रुपया तथा नियंत्रित भारतीय कम्पनियों में 152.60 करोड़ रुपया लगाया गया था। 1956 में जो विदेशी पूँजी आई उसमें प्रत्यक्ष विनियोजन 23.7 करोड़ रु० का तथा अन्य 12.7 करोड़ रु० था। अन्य में 12.1 करोड़ रु० का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का ऋण सम्मिलित है। यदि उसे निकाल दें तो केवल .6 करोड़ रु० ही इस मद के अन्तर्गत आता है।

विदेशी पूँजी के उपयोग की क्षमता

यह सब देश के औद्योगीकरण का क्रान्तिकारी कार्यक्रम नहीं प्रस्तुत कर सकता, हाँ कुछ पुराने क्षेत्रों में अपने वर्चस्व को बढ़ाकर अथवा कुछ नये क्षेत्रों में विधायन का साधारण कार्यक्रम लेकर देश की स्वदेशी भावना का दुरुपयोग एवं विकासशील छोटे उद्योगों के मार्ग में काँटे अवश्य उत्पन्न कर सकता है। वास्तविकता तो यह कि जिन योजनाओं के लिए हमें विदेशी पूँजी चाहिए उनके लिए अन्य उपकरण भी देश में सहज नहीं जुटाये जा सकते। उप-वित्तमन्त्री द्वारा राज्य सभा के पटल पर 1 दिसम्बर 1958 को रखे गये एक वक्तव्य के अनुसार विदेशों से स्वीकृत 988.03 करोड़ रुपये की ऋणराशि में से सरकार केवल 372.53 करोड़ रु० का उपयोग कर पाई है, जबकि 651.50 करोड़ रु० अभी भी बाकी पड़ा हुआ है। उनकी योजनाएँ तैयार करने और वार्ता-विमर्श का ही कार्य चल रहा है। जो ऋण हमें प्राप्त होता है वह मुद्रा-विशेष से ही नहीं, अतिरिक्त शर्तों से भी बँधा रहता है। यदि ऋण के खर्च करने में हमें स्वतन्त्रता रहे तो हम अपने तरीके से उसकी योजना बना सकते हैं। वास्तव में तो आज की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर विनिमय (बारटर) की है। इसमें केवल ऋण का उपयोग ही नहीं भुगतान भी एक समस्या है। भुगतान के लिए केवल अपना निर्यात बढ़ाने या आयात कम करने और इस प्रकार भुगतान-सन्तुलन अनुकूल बनाने से काम नहीं चलेगा अपितु हमें वे विदेशी मुद्राएँ प्राप्त करनी होंगी जिनमें हमें भुगतान करना है।

**** संशोधित बजट अनुमान।

†††† प्रारम्भिक।

अर्द्ध विकसित देशों में शीघ्र ही जीवनस्तर ऊँचा उठाने की आवश्यकताओं तथा विदेशी पूँजी का भुगतान दोनों में विरोध उत्पन्न हो जाता है यदि पूँजी का विनियोग उपभोग वस्तुओं के उत्पादन की अपेक्षा भारी उद्योगों की स्थापना में किया जाये। एक ओर जब औद्योगिकरण के कारण देश में धन का विनियोग होने के कारण उपभोग—वस्तुओं की माँग बढ़ती है दूसरी ओर विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के हेतु उन्हें अधिकाधिक मात्रा में निर्यात करना होता है। फलतः देश में उन्हीं वस्तुओं का अभाव हो जाता है जिनको वह पैदा करता है। भारत में आज कपड़े, चीनी, तिलहन, ज्वार, खली आदि की आवश्यकता होने पर भी हमें उनका निर्यात करना पड़ रहा है। अपनी इस दुर्बलता के कारण जिन चीजों में हमारा एकाधिपत्य है उनमें भी हम अपनी शर्तें नहीं मनवा पा रहे हैं।

उद्यमी

पूँजी का सम्बन्ध पूँजी लगाने वाले अर्थात् उद्यमी से भी आता है। इस दृष्टि से भारत के पास शिल्पियों तथा व्यापारियों की परम्परा है। शिल्पकार अधिकांशतः श्रमिक, पूँजीपति, प्रबन्धकर्ता, साहसिक सब कुछ स्वयं ही होता है। वह मजदूरी पर काम नहीं करता, हाँ आढ़तियों और व्यापारियों से कच्चा माल अगाऊ लेकर उन्हीं को पक्का माल देकर कुछ—कुछ अधार पट्टे की सी व्यवस्था अवश्य करता है। हम एक ओर शिल्पियों को सहयोगी समितियों में गठित कर सकते हैं तो दूसरी ओर व्यापारियों को भी आधुनिक ढंग का उत्पादक बना सकते हैं। पंजाब, बंगाल आदि के उद्योग—धन्धे इसी प्रकार विकसित हुए हैं। इन छोटी—पूँजीवालों के सामने उत्पादन के बड़े कार्यक्रम रखना इन्हें या तो हतोत्साहित करना है या सटोरिया बनाना।

हम चाहे जिस पहलू से देखें पूँजी की दृष्टि से भी भारत के लिए छोटे और मध्यम दर्जे के उद्योग ही उपयोगी रहेंगे।

प्रबन्ध या संघटन

प्रबन्ध और संघटन की कुशलता का भी उद्योगों के स्वरूप और अनुमान से गहरा सम्बन्ध है। कुशलता यद्यपि व्यक्तिगत गुण है तथा उसके सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता, फिर भी सर्वसामान्य मर्यादाएँ अवश्य निश्चित की जा सकती हैं। बड़े—बड़े उद्योगों के नियमन और संघटन में जिस कुशलता की आवश्यकता होती है वह विरल है। यदि हमने बड़े उद्योगों को जन्म के कुछ ही दिनों बाद मरता देखें। भारत में ही नहीं, अमेरिका जैसे देश में भी इन बड़े उद्योगों की बाल—मृत्यु—दर बहुत अधिक है। एक अनुमान के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रारम्भ होने वाले कारखानों में 66 प्रतिशत एक वर्ष से आगे नहीं चल पाते तथा 5 वर्ष से आगे चलने वालों की संख्या केवल 20 प्रतिशत है। ये आंकड़े चौका देने वाले हैं। किन्तु जिस प्रतिस्पर्धी मात्स्य—न्यायीन अर्थ—व्यवस्था को वे आधार बनाकर चले हैं उसके लिए असम्भव नहीं। भारत में जितने बड़े उद्योग चल रहे हैं उनमें योग्य प्रबन्धकों और व्यवस्थापकों का अभाव ही है। शासन के सामने भी यही कठिनाई है। उद्योगों की व्यवस्था और वह भी आज के गूढ़ अर्थ—तन्त्र में काफी शिक्षण, ज्ञान, परिश्रम, कल्पकता, शतावधानता तथा बुद्धिमत्ता की माँग करती है। इसके लिए योग्य वर्ग का विकास समय लेगा अन्यथा हम कुछ न कुछ उठक—पटक करने वाले और हेरा—फेरी करने वाले ही पैदा कर देंगे।

व्यक्ति की सीमाएँ

बड़े उद्योगों में धीरे-धीरे व्यक्ति का सम्बन्ध दूर का होता जाता है। एक मर्यादा के बाद तो कोई भी व्यक्ति उनकी ओर ईमानदारी से ध्यान नहीं दे सकता। श्री ओवन डी. यंग ने संयुक्त राज्य अमेरिका की एक समिति के सम्मुख साक्षी देते हुए कहा था— “आजकल के औद्योगिक साम्राज्यों के आकार, प्रकार और व्याप के कारण किसी भी व्यक्ति या व्यक्तिसमूह के लिए, वे फिर कितने भी तीक्ष्ण-बुद्धि क्यों न हो, इन जटिल, टेढ़े-मेढ़े, स्तूप-सदृश्य संघाओं की कार्यवाही का कुशलता से संचालन करना तो दूर समझना भी असम्भव है।” बड़े उद्योग-धन्धे यदि चलते और मुनाफा देते रहते हैं तो उन अनुचित सुविधाओं के कारण जो उन्हें आर्थिक के अतिरिक्त अन्य कारणों से प्राप्त होती रहती हैं। भारत में मैनेजिंग एजेंसी पद्धति की बुराइयों का मूल कारण उद्योगों का आकार तथा अन्तर-सम्बन्ध है। साथ ही इन उद्योगों की अवस्था-प्रक्रिया के विषय में ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों का अभाव होने के कारण यह विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति और भी बढ़ती जा रही है।

मानव-सम्बन्ध

भारत में विशेषकर तथा सभी जगह प्रारम्भिक अवस्था में किसी भी कार्य की सफलता के लिए मानवी सम्बन्धों के आधार पर प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं नियन्त्रण आवश्यक है। बड़े उद्योगों में मानव एक बड़ी भारी मशीन का, एक हृदयहीन समष्टि का पुर्जा मात्र बन जाता है। यह मानव के लिए उपयोगी नहीं। भारत की संस्कृति ने कभी मानव को हटाकर विचार नहीं किया। हमारे लिए ऐसी मशीन में काम करना अत्यन्त कठिन है। यदि हमने किया भी तो उसमें हम अपने व्यक्तित्व का उज्वलतम स्वरूप प्रकट नहीं कर सकेंगे। इस विचार से भी हमारे लिए उद्योगों की वही प्रणाली उपयुक्त है जिसमें हम कुटुम्ब के आधार पर काम को जीवन का अंग बनाकर चल सकें। इसमें मालिक-मजदूर, उत्पादक-उपभोक्ता आदि के सम्बन्धों का ठीक-ठीक निर्धारण हो सकेगा। हम इन सम्बन्धों का नियमन पश्चिम के मूल्यों से नहीं कर सकते। उन्होंने कटुता निर्माण कर दी है। फैक्टरी एक्ट, बेजेज एक्ट आदि सभी कानून पश्चिम की नकल करके बनाये गये हैं। वे उद्योगपति को उसी रूप में देखते हैं जिसमें वह अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में ब्रिटेन व यूरोप के अन्य देशों में प्रकट हुआ तथा जिस रूप में कार्लमार्क्स ने उसे चित्रित किया। भारत के कतिपय उद्योगपतियों ने भी पश्चिमी उद्योगों की परम्परा को भारत में चलाने के लिए उनका ही बाना धारण किया होगा किन्तु देश के व्यापक औद्योगीकरण में मानव-सम्बन्धों का निर्माण हमें अपने ही मूल्यों पर करना होगा। छोटे उद्योगों से हम उनका स्वरूप निश्चित कर पायेंगे।



10. माल, माँग और औद्योगिक प्राथमिकताएँ

आयात-निर्भरता

औद्योगीकरण का अर्थ है कच्चे माल का विधायन करके उससे उपभोग-योग्य वस्तुओं को तैयार करना। कच्चा माल और पक्के माल की माँग ही औद्योगीकरण के स्वरूप और मात्रा को निश्चित करते हैं। कच्चे माल के लिए व्यक्ति की दृष्टि स्वाभाविक तौर पर अपने आस-पास की प्रकृति-सम्पदा एवं कृषि-उत्पादन पर जानी चाहिए। किन्तु निर्मित वस्तुओं के जो स्वरूप पश्चिम में निश्चित हैं। उनसे ही बंधे रहने के कारण तथा निर्माणविधि का पूरा ज्ञान न होने के कारण हम अभी तक अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर पाये हैं। प्रत्युत हमारा औद्योगीकरण अपने कच्चे माल का उपयोग न करके विदेशों से आयातित कच्चे अथवा अर्द्ध-निर्मित माल के आधार पर चल रहा है। वैसे तो आज के आधुनिक उद्योगों में एकाध ही निकलेगा जो अपने कच्चे माल की सम्पूर्ण आवश्यकताएँ देश में पूरा कर लेता हो किन्तु जो उद्योग भारत में निर्मित माल के पर्याय या पूरक के रूप में उत्पादन करने के हेतु स्थापित हुए हों उनकी पर-निर्भरता तो बहुत खलती है। प्लास्टिक और रेयन ऐसे उद्योग हैं। इनको बहुतांश में अभी तक मशीनों के लिए ही नहीं, कच्चे माल के लिए भी विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। भारत में यद्यपि काफी तेल पैदा किया जा सकता है किन्तु साबुन के लिए तेल बाहर से ही मंगाना पड़ता है। लम्बी रेशे के कपास और जूट के लिए भी देश के विभाजन के बाद हम आत्मनिर्भर नहीं रहे। हम रेडियो तो खूब बना रहे हैं किन्तु उसके 90 प्रतिशत हिस्से बाहर से लाकर लगा देते हैं। ड्राइबैटरियों में 78 प्रतिशत और बिजली के बल्बों में 90 प्रतिशत आयात-निर्भरता है। 1956-57 में हमें 138.73 करोड़ रुपये का कच्चा माल बाहर से मंगाना पड़ा। इसके अतिरिक्त लगभग 200 करोड़ रु० का अर्द्ध-निर्मित माल हम बाहर से मांगते हैं।

हमारी इस अत्यधिक आयात-निर्भरता का कारण उद्योग-धन्धों में पूरी तरह विदेशी अनुकरण हैं। अनेक उद्योगों जो विदेशी कम्पनियों ने भारत में खोले हैं वे बहुत सा कच्चा माल भी बाहर से मंगाने हैं, जैसे साबुन और रंग का उद्योग। हाल के कुछ उद्योग केवल बाहर से माल लाकर उनका पैकिंग या एकत्रीकरण मात्र यहाँ करते हैं। दूसरी ओर यद्यपि देश के लिए तेल और खली दोनों की ही हमें नितान्त आवश्यकता है फिर भी हम उसे बराबर भारी मात्रा में बाहर भेजते जा रहे हैं। चमड़ा सिझाने के लिए अभी तक हम वाटल छाल को दक्षिण अफ्रीका से मंगा रहे हैं। यदि हम अपने पुराने उद्योगों को आधार बनाकर विकास का मार्ग निश्चित करेंगे तो फिर उलटे बांस बरेली को भेजने वाली उक्ति चरितार्थ नहीं होगी। जिन वस्तुओं का हम सर्वाधिक उत्पादन करते हैं उनका विधायन करके हम एक प्रभावी स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे हम जिन साधनों से अनेक वस्तुएँ निर्माण करते आए हैं या तो उन्हें ही विकसित करेंगे अथवा उनके उपयुक्त पर्याय देश में ही ढूँढ़ कर निकालेंगे। विदेशों से माल लाकर उनका थोड़ा बहुत विधायन हमारे देश की समस्या का हल नहीं कर सकता।

खेत और कारखानों की दूरी

देश के अन्दर भी कच्चे माल और उनके कारखानों का हमने ठीक मेल नहीं बिठाया है। बहुत से कारखाने विभिन्न ऐतिहासिक कारणों से बम्बई और कलकत्ता के आस-पास खुल गये हैं। अर्थात् जहाँ माल है वहाँ कारखाने खोलने के स्थान पर हमने जहाँ कारखाने हैं वहाँ माल ढोने की नीति अपनाई है। इसका परिणाम एक ओर तो देश का अत्यन्त ही असंतुलित औद्योगीकरण तथा दूसरी ओर बिचौलियों की बढ़ती में हुआ है। कच्चे और पक्के माल के मूल्यों के बीच तालमेल भी इस कारण नहीं बैठ पाता। हम यदि इन सभी दृष्टियों से विचार करेंगे तो हमें औद्योगीकरण का जाल विकेन्द्रीकरण के आधार पर सभी प्रदेशों एवं ग्राम-ग्राम में फैलाना होगा।

माँग

विदेशों में नये बाजारों की खोज

माँग और उद्योगों का जहाँ ठीक-ठीक सम्बन्ध हो जाता है वहाँ एक संतुलित अर्थ-व्यवस्था रहती है। साधारणतया जिस चीज की माँग हो उसे पैदा करना चाहिए किन्तु आजकल बाजार ढूँढ़ने, लोगों की अभिरुचि को समझने और परखने के अतिरिक्त विज्ञापन एवं प्रचारतन्त्र के सहारे बाजार बनाने, लोगों की अभिरुचि निर्माण करने और बदलने पर भी बल दिया जाने लगा है। अतः हमें देश में जिन चीजों की माँग है उनके लिए उद्योग प्रारम्भ करने के साथ ही जिन चीजों को हम पैदा करते हैं उनके लिए नये-नये बाजार बनाने की भी चिन्ता करनी होगी। हमने पश्चिम के प्रचारतन्त्र से अपनी अभिरुचि तो बदल दी और इस प्रकार अपने उद्योग-धन्धों के लिए देश का बाजार समाप्तप्राय कर दिया; किन्तु इस बात का प्रयास नहीं किया कि इन उद्योगों के लिए हम दूसरा बाजार ढूँढ़ निकालें। यदि प्रयास किया जाय तो पश्चिम के देशों में बहुत बड़ी माँग हमारी वस्तुओं के लिए उत्पन्न की जा सकती है। मनुष्य स्वभाव से कभी एक ही प्रकार की वस्तु पसन्द नहीं करता। यदि आज हम मानव हस्तकौशल और दक्षता की परिणामस्वरूप कलापूर्ण, विविधताभरी, कृतियों की सुन्दरता से विमुख हो मशीनों की एक-रूपता की ओर झुके हैं तो पश्चिम में निश्चित ही इसकी प्रतिक्रिया उत्पन्न होकर मशीन से मानव की कृति का प्रेम उत्पन्न होगा। हमें अपने बाजारों का विकास करना होगा।

देश में व्यापक बाजार

विदेशों में हम नये-नये बाजार खोजते और बढ़ाते रह सकते हैं किन्तु यह सत्य है कि वहाँ की माँग के आधार पर हम अपने देश के सुदृढ़ टिकाऊ औद्योगिक ढाँचे को नहीं खड़ा कर सकते। हमारे कार्यक्रम का मुख्य आधार तो हमारे देश का बाजार ही हो सकता है। भारत इतना विशाल देश है तथा इसकी जनसंख्या इतनी अधिक है कि वह स्वयं एवं आत्मनिर्भर अर्थ-व्यवस्था का आधार बन सकता है। हमारी माँग ही कोई कम नहीं है।

माँग और उत्पादन का मेल

जब हम देश की माँग का विचार करते हैं तो हमें मनुष्य की 1. प्राथमिक और इसलिए मुख्यतः आय निरपेक्ष (income inelastic) तथा 2. बढ़ती हुई आय के साथ पैदा होने वाली माँगों का विचार करना होगा। उत्पादन की पद्धति, वित्तसंचय एवं कराधान, वितरण-व्यवस्था, सामाजिक विधान और रहन-सहन में परिवर्तन, इन कारणों से भी कुछ माँगों में बदल होता है। हमें इनका ध्यान रखकर ही अपना कार्यक्रम बनाना चाहिए। जब लोगों को रोटी और कपड़े की माँग हो उस समय हम रेडियो सेट और झूठे-मोती बनाने का उद्योग प्रारम्भ करें तो उचित नहीं होगा। यदि आय के बढ़ने के कारण मोटे कपड़े के स्थान पर बढ़िया कपड़े की माँग है तो हमें उसे ही पैदा करना होगा। शहर-प्रधान उत्पादन-प्रणाली अपनाकर हमें नगरों में लगनेवाली वस्तुओं का उत्पादन करना ही होगा। अर्थ-व्यवस्था के सम्पूर्ण ढाँचे का अभिन्न एवं अन्तर्सम्बन्ध होने के कारण हमें अपनी प्रत्येक योजना का माँग पर होने वाला परिणाम दृष्टि में रखना होगा। उसकी घट-बढ़ के अनुसार ही हमें उपाय-योजना, करनी होगी। अतः जहाँ उद्योगों के स्वरूप के निर्धारण में श्रम, शक्ति, पूँजी और प्रबन्ध आदि को ध्यान में रखना होता है वहाँ बाजार का विचार भी आवश्यक है। वास्तव में

तो माँग रही तो फिर सब खेल जमाने की जरूरत है, यदि वही नहीं तो केवल उद्योगों के लिए ही उद्योग तो स्थापित नहीं किये जा सकते। औद्योगिकरण के कार्यक्रम की सफलता इसमें भी है कि वह किसी भी स्तर पर तथा किसी भी क्षेत्र में माँग की पूर्ति न कर सकने के कारण संकीर्णता (Bottleneck) तथा बिना माँग के उत्पादन के कारण मन्दी (Depression) की स्थिति उत्पन्न न कर दे। इसके लिए हमें औद्योगिक कार्यक्रम की प्राथमिकता का विचार करना होगा।

उद्योगों के प्रसार

उद्योग-धन्धों को हम इन तीन वर्गों में बाँट सकते हैं : 1. उपभोग-वस्तु उद्योग, 2. उत्पादन वस्तु-उद्योग 3. मूल-उद्योग। प्रथम श्रेणी में वे उद्योग आते हैं जो मनुष्य के उपभोग में आनेवाली वस्तुएँ जैसे कपड़ा, साबुन, माचिस आदि पैदा करते हैं। दूसरी श्रेणी में वे उद्योग हैं जो उन चीजों को पैदा कराते हैं जिनसे उत्पादक-वस्तुएँ बनती हैं अथवा जो उनके बनाने में प्रयुक्त होते हैं, जैसे सूत, टायर-ट्यूब, पेंसिल का लेड, मशीनें आदि। आधारभूत उद्योग वे हैं। जिनके सहारे उपभोग या उत्पादक वस्तुएँ बनती हैं। बिजली, लोहा, इस्पात, भारी रसायन आदि इसके अन्तर्गत आते हैं। कुछ जनोपयोगी सेवाएँ रेल आदि भी इसी में शामिल हैं। यह वर्गीकरण मोटा-मोटा है। एक ही वस्तु एक स्थान पर उत्पादक वस्तु हो सकती है तो दूसरे उपभोग। साधारणतया विचार किया जाय तो आधारभूत उद्योग का पहिला स्थान आता है क्योंकि जब तक वे नहीं होंगे बाकी उद्योग चल ही नहीं सकेंगे। उसके उपरान्त उत्पादक-वस्तुएँ और सबसे अन्त में उपभोग-वस्तुएँ बनाना यही क्रम सामने आता है। किन्तु जब हम माँग का विचार करते तो सबसे अधिक माँग उपभोग-वस्तुओं की है। इतना ही नहीं तो वह बराबर बढ़ भी रही है। आधारभूत और उत्पादक उद्योगों में जिनको काम देते हैं उनकी आय में वृद्धि होने के कारण उनकी माँग और बढ़ जाती है। इस बढ़ी हुई माँग को यदि पूरा करके योग्य उपभोग-वस्तुओं का अभाव रहा तो मूल्य बढ़ जायेंगे। इसका परिणाम उत्पादक और आधारभूत उद्योगों के उत्पादन-व्यय पर पड़ेगा, जो कि आगे चलकर उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन-व्यय पर पड़ेगा, जो कि आगे चलकर उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन-व्यय पर भी परिणाम करेगा। इस प्रकार जब उपभोग-वस्तुएँ बाजार में आवेंगी तब तक मूल्य स्तर, जो कि स्फीतिजनक होगा, इतना बढ़ चुका होगा कि साधारणजन के लिए एक समस्या पैदा हो जायेगी। आधारभूत उत्पादनों का मूल्य तो उपभोग-प्रकार-निरपेक्ष है, किन्तु उत्पादक वस्तुएँ सदैव प्रचलित अभिरुचि एवं फैशन से सापेक्षित सम्बन्ध रखती हैं। जब हम छुआ-छूत के कारण काँच के और चीनी के बरतनों का प्रयोग नहीं करते थे उस समय बड़े पैमाने पर काँच के कारखाने खोलना हितावह नहीं होता। अतः ऊपर से स्वाभाविक दिखने वाली इन प्राथमिकताओं में हमें बदल करना होगा।

उपभोग वस्तुओं को प्राथमिकता

हमने कृषि-उत्पादन की वृद्धि तथा कृषि पर से भार कम करने की आवश्यकता को अनुभव किया है। हमने यह भी स्वीकार किया है कि किसान हमारा प्राथमिक उत्पादक ही नहीं, वह हमारे मुख्य बाजार का क्रेता भी है। हम यदि उससे विपणनीय अतिरेक चाहते हैं तो हमें उसकी माँग पूरी करनी होगी। इस दृष्टि से कृषि के लिए उत्पादक वस्तुएँ तथा किसान की उपभोग-वस्तुओं का उत्पादन हमारी प्रथम आवश्यकता है। इन वस्तुओं के उत्पादन में लगे हुए लोगों तथा शेष के लिए भी हमें उपभोग-वस्तुओं का उत्पादन करना होगा, क्योंकि सम्पूर्ण बाजार को हम कृषक और गैर-कृषक इस आधार पर नहीं बाँट सकते। इतने व्यापक बाजार की माँग पूरा करने वाले उद्योग हमने खड़े कर दिये तो हम अधिकांश लोगों को काम दे सकेंगे।

किन्तु प्रश्न उपस्थित होगा कि इन उद्योगों को खड़ा करने के लिए हम उत्पादक मशीनों आदि कहाँ से लावें। यदि हम कोरी स्लेट पर लिखते होते तो हमारे लिए यह बड़ी कठिनाई थी किन्तु हमारे देश में पहिले से ही उपभोग-वस्तुओं का निर्माण करने वाले बहुत से उद्योग हैं। शासन अपनी विभिन्न नीतियों से उन्हें योग्य प्रोत्साहन प्रदान कर सकता है। कुछ अंशों तक उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हम आयात पर निर्भर रह सकते हैं क्योंकि हम उस अर्थनीति की कल्पना करके नहीं चले जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हमारा कोई सम्बन्ध न हो।

उत्पादक एवं मूल उद्योग

उपभोग-वस्तुओं के उद्योग के व्यापक प्रसार के साथ-साथ उत्पादक वस्तुओं के उद्योग स्वतः विकसित होते जायेंगे। आवश्यकतानुसार उन्हें संरक्षण आदि की सुविधाएँ दी जा सकती हैं। हाँ, आधारभूत उद्योगों में से कुछ को तो हमें जल्दी-से-जल्दी पूरा करना चाहिए तथा कुछ के लिए हम एक लम्बी अवधि का कार्यक्रम बनाकर चल सकते हैं। ये उद्योग पूँजी-प्रधान होने के कारण एकबारगी प्रारम्भ नहीं किये जा सकते। बिजली प्रथम वर्ग में आती है तथा इस्पात, भारी रसायन आदि दूसरे वर्ग में। हम यह न मान लें कि इन उद्योगों को हम अभी टालकर किसी एक ही पंचवर्षीय योजना के अन्दर पूरा कर लेंगे। किसी भी एक समय इन पर एकांगी भार कठिनाई पैदा कर देगा। हाँ, उपभोग-उद्योगों का अधिक विस्तार होने तथा देश की प्राविधिक कुशलता आदि को बढ़ाने के कारण वह सुवह्य हो सकता है। वांछित तो यह है कि चालीस वर्षों का इस सम्बन्ध में कार्यक्रम बनाकर थोड़े से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर बढ़ाते जायें। हर समय उपभोग-वस्तुओं पर बल अधिक रहे। सब लोगों को काम मिलने तथा उनकी आय के अन्तर्गत ही उपभोग-वस्तुओं के सुलभ होने के कारण वे अपना जीवनस्तर ऊँचा उठा सकेंगे। उनके पास जो थोड़ा-बहुत बचे उसके अधिपोषण की व्यवस्था रही तो वित्त-संचय बढ़ता जाएगा। छोटे-छोटे उद्योगों में पूँजी-प्रधान उद्योगों की स्थापना कर सकेंगे। प्राविधिक एवं प्रबन्ध सम्बन्धी योग्यता भी बढ़ती जायेगी तथा ऐसा कोई समय नहीं आयेगा जबकि उत्पादित वस्तु के लिए बाजार न मिले, क्योंकि वह तो बढ़ती हुई आय और रोजगारी के साथ बढ़ेगा ही। आज हमने एक पूँजी-प्रधान योजना हाथ में ली है, जिसके परिणामस्वरूप एक ओर मुद्रास्फीति के मूल्य बढ़ रहे हैं तो दूसरी ओर कपड़े और सीमेन्ट का स्टॉक जमा होता जा रहा है, यद्यपि लोग नंगे और आवासहीन घूमते हैं।

पूँजी-प्रधान भारी उद्योगों को चलाने के लिए परिवहन आदि की व्यवस्था भी बड़े पैमाने पर करनी पड़ती है। फल यह होता है कि पूँजी की दुर्लभता और भी बढ़ती जाती है। पूँजी और देश के अन्य साधन जब इन कुछ भारी उद्योगों के लिए ही पूरे नहीं पड़ते तो शेष उद्योगों के सम्मुख साधनों का उत्तरोत्तर अभाव होता जाता है, जिसमें उनका विकास अवरुद्ध हो जाता है। समाज को इस प्रकार भारी मूल्य चुकाना पड़ता है।

सुरक्षा और भारी उद्योग

भारी और आधारभूत उद्योगों का सुरक्षा की दृष्टि से अवश्य महत्व है। आधुनिक शस्त्रास्त्र के लिए वे अपरिहार्य हैं। किन्तु किसी भी देश की सुरक्षा केवल शास्त्रस्त्रों से नहीं होती। अन्न, वस्त्र आदि की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर दुर्लक्ष्य करके सुरक्षा की तैयारी नहीं की जा सकती। इन उद्योगों को खड़ा

करने में ही यदि हमने अपने साधन लगा दिये तो युद्ध के समय तो हमारी स्थिति और नाजुक हो जायेगी। इसलिए सुरक्षा का विचार भी हम यथार्थवादी एवं सर्वतोमुखी दृष्टिकोण से करें।

भारी उद्योगों के लिए भारी बलिदान

सुरक्षा के समान ही कई बार प्रतिष्ठा की भावना से भी भारी उद्योगों का कार्यक्रम हाथ में लिया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि भारी उत्पादक और आधारभूत वस्तुओं की उत्पादन-क्षमता हमें विश्व की आँखों में ऊँचा उठा देगी। किन्तु ये सब कारण अर्थशास्त्र की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इन्हें पूरा करने के लिए न केवल हमें अधिक दिनों तक अपने जीवनस्तर को नीचा रखना पड़ेगा बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों की बलि देनी होगी। “इस कार्यक्रम की सफलता केवल सोवियत मूल्यों की स्थापना और वहाँ जैसे नेतृत्व के प्रदुर्भाव और मान्यता पर ही नहीं अपितु उत्पादन और उपभोग पर व्यापक नियन्त्रण के सफल व्यवहार की सम्भावनाओं पर निर्भर करती है। जब तक यह नहीं होता और जब तक निजी क्षेत्र में उत्पादन की छूट तथा उपभोग-स्वतन्त्रता विद्यमान है, तब तक पूँजी प्रधान उत्पादन के क्षेत्र में भारी वृद्धि का परिणाम मुद्रास्फीति और अन्त में सम्पूर्ण योजना का विस्फोट ही होगा।”^{****}



^{****} भवतोष दत्त: दी इकनॉमिक्स ऑफ इण्डस्ट्रियलाइजेशन पृष्ठ 170

11. छोटे और बड़े उद्योग

बड़े उद्योगों की अनुपयुक्तता

औद्योगीकरण के लिए आवश्यक उत्पादनों और उनकी प्राप्त्यता तथा प्राथमिकताओं का विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचते हैं कि भारत के लिए छोटे-छोटे उद्योग ही सर्वाधिक उपयुक्त हैं। भारी और बड़े उद्योग हम चाहे जिस दृष्टिकोण से देखें हमारे सम्मुख समस्याएँ सुलझाने के स्थान पर पैदा अधिक कर देते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि :

1. भारतीय परम्परा प्राप्त अर्थ-व्यवस्था से असम्बद्ध होने के कारण वे कभी जीवमान समाज के साथ समरस नहीं हो सकते।
2. इनकी प्रतिष्ठापना बहुतांश में उद्योगों का विकास या पुनर्संस्थापन होकर विनाश और विस्थापन ही होता है। वे प्रचलित के पूरक नहीं अपितु उनका उत्थापन कर स्थान ग्रहण करते हैं।
3. उनके द्वारा भारत में प्रत्येक को काम देने की व्यवस्था नहीं हो पाती। बल्कि वे प्रौद्योगिक बेरोजगारी (Technological unemployment) को बढ़ाते ही हैं।
4. वे पूँजी-प्रधान हैं; अतः भारत में सामर्थ्य के बाहर हैं।
5. उनकी आयात-निर्भरता बहुत अधिक है। फलतः वे हमारे भुगतान-संतुलन पर भारी बोझ डालते हैं।
6. भारत में उपलब्ध प्रबन्ध और श्रमिक-प्रशिक्षा उनके साथ मेल नहीं खाती।
7. वे श्रमिक को कुटुम्ब, कुल, जाति और ग्राम-समाज से उच्छेद कर एक नवीन कृत्रिम, बोझिल, मानवमूल्य-विरहित वातावरण में खड़ा कर देते हैं। इस वातावरण में मानव मजदूर भर रह जाता है। उसके शेष सभी मूल्यों का विनाश होकर वह अपने व्यक्तित्व का विकास करने के स्थान पर विकृतियों का शिकार बनता है। भारत की संस्कृति का उनसे मेल नहीं खाता।
8. इन उद्योगों का सामाजिक-मूल्य बहुत अधिक चुकाना होता है। नागरीकरण के परिणामस्वरूप स्वास्थ्य, आवास आदि की व्यवस्था भारी व्यय करके भी सम्भव नहीं हो रही।
9. भारी उद्योगों वाली उत्पादन-प्रणाली जटिल एवं विविध प्रकार की संस्थागत व्यवस्थाओं (institutional arrangements) पर निर्भर रहने के कारण एकबारगी हमारे दुर्लभ साधनों पर भारी बोझ डाल देती है, जिससे स्थान-स्थान पर अभावजन्य संकट (bottlenecks) उत्पन्न हो जाते हैं।
10. भारी उद्योग आशुफलदायी नहीं होते। अतः जहाँ भार सहन करने का सामर्थ्य कम हो वहाँ उपयुक्त नहीं रहते। उनमें लगाई गई पूँजी का गुणक प्रभाव (multiple effect) भी कम रहता है।
11. भारी उद्योगों और कृषि का निकट का सम्बन्ध नहीं बैठाया जा सकता। दोनों के बीच की दूरी अनेक मध्यजीवियों को जन्म देती है।
12. औद्योगिक श्रम-संघटनों और नियमों की आज की स्थिति ने भारत में श्रम को मंहगा एवं उत्तरदायी बना दिया है। वेतन-वृद्धि का औचित्य माना जा सकता है। किन्तु उत्पादकता में वृद्धि के अभाव में भार उपभोक्ता पर सरका दिया जाता है। वास्तव में तो धीरे-धीरे ऐसी स्थिति निर्माण हो रही है जहाँ औद्योगिक पूँजी और श्रम मिलकर उपभोक्ता का शोषण कर सकेंगे।
13. भारत में कृषि के श्रम प्रधान होने के कारण तथा खेती के कुछ कामों के लिए भारी संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता होने की वजह से गाँव के मजदूर वर्ग को हटाकर शहरों में ले

जाना कृषि पर परिणाम करेगा। शहरों में उद्योग-धन्धों में आने वाला वर्ग गाँव का सबसे अच्छा और स्वस्थ वर्ग रहेगा। गाँवों में संख्या और गुणा दोनों में ही पिछड़े हुए समाज से कृषि-उत्पादन में तेजी से वृद्धि की आशा करना आकाश-कुसुमवत् होगा।

14. जिन परिस्थितियों में पश्चिम के देशों ने बड़े उद्योगों की स्थापना की वे आज हमें उपलब्ध नहीं हैं। उनके पास उपनिवेशों के विस्तृत बाजार थे, जहाँ वे पक्का माल बिना किसी प्रतियोगिता के बेच सकते थे तथा कच्चा माल और खाद्य सस्ते भाव पर खरीद सकते थे; मजदूरों को कम तनखाह पर रखकर भारी मात्रा में पूँजी संचय कर सकते थे। इस पर भी उन्हें विकास में डेढ़ सौ वर्ष लगे। इस क्रमिक विकास में ऐसा कोई अवसर नहीं आया जब निकटभूत और आनेवाले भविष्य के आर्थिक ढाँचे में उत्पादन, वितरण और उपभोग की व्यवस्थाओं में काफी और मौलिक अन्तर रहा हो। यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति आज जो क्रान्ति हम करने जा रहे हैं उसकी तुलना में राजा भोज के सामने गंगू तेली जैसे है।

15. बड़े उद्योगों में सदैव एक स्थान पर केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति रहती है। भारत में आज संघटित उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों का 77 प्रतिशत बंगाल, बम्बई और मद्रास में है। इन प्रदेशों में भी सम्पूर्ण जमघट कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद और मद्रास नगरों में है। पिछले सात वर्षों में जो-जो कम्पनियाँ पंजीयित हुई हैं उनमें का अधिकांश इन्हीं राज्यों में हैं। इससे सार्वदेशिक एवं विस्तृत विकास के मार्ग में सदैव बाधा पड़ती है। बहुधा ऐतिहासिक कारणों से यह स्थानीकरण (Localisation) होने के कारण इसमें आर्थिक लाभों का भी विचार नहीं किया जाता। भूमि पर जहाँ भार अधिक है वहाँ उद्योगों का प्रारम्भ न होकर वे ऐसी जगह होते हैं जहाँ या तो औद्योगीकरण के विशाल कार्यक्रम के लिए पर्याप्त भूमि उपलब्ध है अथवा बड़े-बड़े नगरों के पास सभी आधुनिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। राजस्थान, उड़ीसा, आसाम, बिहार, उत्तर-प्रदेश, पंजाब, आन्ध्र (तेलंगाना), मैसूर और सौराष्ट्र जहाँ देश के श्रमिक-वर्ग का दो-तिहाई से अधिक रहता है, उपेक्षित ही रहे हैं।

16. स्थानीकरण सुरक्षा की दृष्टि से बहुत हानिकारक सिद्ध होता है। उसके लिए विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। राजनीतिक दृष्टि से भी देश के कुछ भागों का विकास शेष में असन्तोष उत्पन्न कर एकता और राष्ट्रीयता के लिए खतरा पैदा कर सकता है।

17. स्थानीकरण से देश के यातायात के साधनों पर बहुत भार पड़ता है। वे शान्ति के समय ही माल को इधर से उधर पूरी तरह से नहीं ढो सकते, युद्ध-काल में तो समस्या दुहरी हो जायेगी।

इन आर्थिक एवं अन्य कारणों के अतिरिक्त हमें अपने आधारभूत लक्ष्यों का भी विचार करना होगा। विकेन्द्रीकरण तथा समान वितरण हमने सिद्धान्त रूप में स्वीकार किये हैं। बड़े-बड़े उद्योग इन दोनों के विरोध में जाते हैं। इनसे समाज में शक्ति के केन्द्रीकरण एवं विषमता की प्रवृत्ति बढ़ती है।

विषमता

बड़े उद्योगों के परिणामस्वरूप ऐसे शक्तिशाली आर्थिक गुट तैयार हो गये हैं जो अनेक देशों की राजनीति पर भी कब्जा करके बैठे हैं। प्रेसीडेण्ट रूजवेल्ट ने 1933 में कहा था— “संयुक्त राज्य अमेरिका के 12.4 करोड़ आबादी में केवल 600 निगम देश के दो-तिहाई आर्थिक जीवन पर नियंत्रण करते हैं तथा शेष 1 करोड़ छोटे व्यापारी बाकी एक-तिहाई के भागीदार हैं।

भारत में भी स्थिति इससे भिन्न नहीं। 1924 में प्रो० शाह और खम्बागा ने हिसाब लगाया था कि भारत की आय में से यदि 90 रु० बाँटे जायें तो 33 रु० धनिक वर्ग के एक व्यक्ति के पास चल जायेंगे, 33 मध्यम वर्ग के व्यक्तियों के पास तथा शेष 34 रुपया काम करने वाले 66 लोगों के पास पहुँचेंगे। अर्थात् श्रमिक और मध्यम वर्ग की आय में 1:2 का अनुपात है तो श्रमिक और धनिक वर्ग की आय में 1:66 का अन्तर है। तबसे यह स्थिति सुधरी नहीं अपितु बिगड़ी है। 1951-52 में आय-कर देने वाले साढ़े-छह लाख व्यक्तियों की आय 582 करोड़ कूती गई थी। देश की कुल आय का अनुमान 9550 करोड़ था। इस प्रकार देश की 6 प्रतिशत आय केवल .45 प्रतिशत लोगों की जेबों में गई। सन् 1955-56 में आय-कर देने वालों की कुल आय 784.91 करोड़ रु० आंकी गई जबकि उनकी संख्या केवल 5 लाख 27 हजार 737 थी। अर्थात् जहाँ आय में वृद्धि हुई है वहाँ आय-कर देने वालों की संख्या में कमी हुई है। 5 लाख से ऊपर की आय वालों की संख्या केवल 877 है तथा उनकी आय 161.78 करोड़ रुपया थी। आयकर, सुपर-कर आदि देकर भी यह आय 85.47 करोड़ रुपया बची रहती है जिसका प्रति व्यक्ति औसत 9 लाख 60 हजार आता है जब कि राष्ट्रीय आय का औसत केवल 252 रु० है। यह भी हम भली भाँति जानते हैं कि आयकर में, और वह भी ऊँची श्रेणियों में भारी चोरी होती है। पहली पंचवर्षीय योजना की अवधि में आय-कर के लिए निर्धारित आय कुल राष्ट्रीय आय के 6 प्रतिशत से बढ़कर 8 प्रतिशत हो गई अर्थात् यह वृद्धि 36.5 प्रतिशत है, निर्धारित कर केवल 17.4 प्रतिशत ही बढ़ा जबकि वसूली 3 प्रतिशत कम रही। उक्त आय का जब हम व्यवसायों के अनुसार वर्गीकरण करते हैं तो व्यापार, परिवहन और यातायात में कर-निर्धारितियों की संख्या 59 प्रतिशत है तथा कर-निर्धारण 44 प्रतिशत है। 1952-53 से इस वर्ग की आय में 14 प्रतिशत की वृद्धि हुई है किन्तु व्यक्तियों की संख्या में कमी हुई है स्पष्ट ही आय का केन्द्रीकरण बढ़ा है।

केन्द्रीकरण

इस विषमता का हम ठीक-ठीक अन्दाजा तो तब लगा सकेंगे जब इस भार आय को प्राप्त करने वालों के साधनों का पता चलायेंगे। एक-एक व्यक्ति या मैनेजिंग एजेन्सी एक से अधिक कारखानों पर नियंत्रण करते हैं। ब्रिटेन की यूनिलिवर कम्पनी का प्रभाव-क्षेत्र 43 देशों में 500 कम्पनियों के ऊपर फैला हुआ है। भारत में यद्यपि इतने बड़े उद्योगपति नहीं हुए किन्तु धीरे-धीरे प्रगति उस ओर ही है। श्री एम०एम० मेहता ने देश में होने वाले इस केन्द्रीकरण का अध्ययन करके अपनी पुस्तक 'स्ट्रक्चर ऑफ इण्डियन इण्डस्ट्रीज' में यह आधार मत प्रतिपादन किया है कि देश में छोटी इकाइयों को समाप्त करके उद्योगों का कुछ हाथों में केन्द्रीकरण एवं बृहदाकारीकरण होता जा रहा है। इतना ही नहीं, उत्पादन के क्षेत्र में अनेक उद्योगों में इतना अधिक केन्द्रित सामर्थ्य है कि उनका एक प्रकार से आधिपत्य ही है। इसका कुछ अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है :

'भारत में उत्पादन क्षमता के केन्द्रीकरण'

उद्योग	कुल इकाइयाँ	केन्द्रीकरण	
		इकाइयाँ	उत्पादन कुल का प्रति०
1	बॉल बेअरिंग	1	
2	सूती मिलों की मशीनें	22	71.69
3	मशीन स्क्रू	9	96.15
4	ऑयल प्रेशर लेम्प्स	10	93.15

5	चाकलेट कवर	3	1	99.18
6	अल्मूनियम शीट्स	3	1	88.78
7	बाइसिकल	12	4	76.91
8	मोटर में हवा भरने के पम्प	5	1	75.85
9	प्लाइवुड	66	13	52.46

उद्योगों और आर्थिक सामर्थ्य का यह केन्द्रीकरण पाश्चात्य उत्पादन प्रणाली की प्रकृति की अनुसार ही है। हम यदि उसे ही आधार बनाकर चलेंगे तो हमें समानता और न्याय की बातें छोड़ देनी चाहिए। विषमताओं को स्वीकार कर कराधान आदि से जितना हम सामाजिक सेवाओं के द्वारा उसे कम कर सकें उससे सन्तोष मानना चाहिए। फिर जैसे कि इटली के अर्थशास्त्री लोरिया ने एक बार चुभते शब्दों में कहा कि §§§§ “कुछ लोग बिना काम के जीते हैं तो कुछ काम करते हुए भी नहीं जीते” यदि हम अपने देश में भी अनुभव करें तो हमें चिन्ता नहीं होनी चाहिए।

कराधान और विषमता

शासन आज विभिन्न प्रकार के कर लगाकर इस विषमता को मिटाने का दावा करता है। किन्तु भारी औद्योगीकरण और उसका यह दावा साथ-साथ नहीं चल सकता। वास्तविकता तो यह है कि पूँजी-प्रधान योजनाओं के लिए यदि धन चाहिए तो वह बड़े-बड़े उद्योगपतियों के पास छोड़ना ही होगा। यह तो सच है कि पिछले पाँच वर्षों में शासन ने जो भिन्न-भिन्न प्रकार के टैक्स लगाए हैं उनसे पूँजीपतियों की तकलीफें बढ़ गई हैं किन्तु उनसे उनकी आय पर विशेष परिणाम नहीं हुआ। सन् 1952-53 में प्रत्यक्ष करों की आमदनी 186.99 करोड़ रुपया थी। 1956-57 में यह बढ़कर 207.44 करोड़ रुपया हुई। श्री टी0 टी0 कृष्णमाचारी के कर-तोड़ बजट (1957-58) के संशोधित आंकड़ों के अनुसार यह आय 224.50 करोड़ रु0 होती है। किन्तु जब इसकी तुलना अप्रत्यक्ष करों, जिनका अधिकांश भार जनता पर पड़ता है, तुलना करें तो केन्द्र में यह आय 1952-53 में 257.05 करोड़ रु0 1956-57 में 365.40 करोड़ रुपया तथा 1957-58 के संशोधित आंकड़ों के अनुसार 457.12 करोड़ रु0 है। यदि इनमें हम राज्य सरकारों के आँकड़े और जोड़ दें तो 1957-58 में 246.87 अप्रत्यक्ष करों से तथा 87.69 करोड़ रुपया भू-राजस्व से प्राप्त किया जाने के संशोधित अनुमान हैं। अर्थात् सामान्य जन के ऊपर केवल करों में रूप में 791.68 करोड़ रुपये का भार पड़ता है, जबकि प्रत्यक्ष करों का भार 224.50 करोड़ रु0+6.77 करोड़ रु0 (कृषि-आयकर) अर्थात् कुल 231.27 करोड़ रु0 था। हमने दोनों वर्गों की आयों में अन्तर देखा। उसके हिसाब से निश्चित ही धनिक वर्ग की आय बढ़ रही है। उस पर प्रतिशत करों का बोझ कम हो रहा है। हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रत्यक्ष करों का बहुत-सा भार मध्यम वर्ग के लोगों को भी वहन करना पड़ता है। अतः यदि हम विषमताओं को कम करना चाहते हैं तो हमें कुछ अन्य उपायों का अवलम्बन करना होगा।

औद्योगिकरण की इस पूँजी-प्रधान पद्धति के कारण शासन ने प्रथम योजना की अवधि में और बाद में भी उद्योगपतियों को अनेक सुविधाएँ दी हैं। विभिन्न वित्त-निगमों और बैंकों से ही उन्हें ऋण नहीं दिया गया अपितु शासन ने स्वयं भी जैसे अतुल प्रोडक्ट्स में प्रत्यक्ष सहायता दी है। विश्व बैंक से भी रुपया दिलवाने की व्यवस्था की गई है। विश्व बैंक का अनुमान है कि प्रथम योजना की अवधि में शासन ने निजी

§§§§ देखिये : दी इण्डियन इकोनामिक जरनल अक्टूबर 1955

“Some live without working and other work without living”

क्षेत्रों को कुल 55 करोड़ रु0 की सहायता दी जो कि उसके द्वारा नयी पूंजी के रूप में एकत्र रुपये से ज्यादा हैं। हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि यह क्षेत्र देश के उत्पादन में केवल 8 प्रतिशत ही योगदान देता है।

कानून और कराधान यदि हमने काफी कठोर कर भी दिये तो भी हमारा अभिप्राय सिद्ध नहीं होगा अपितु उसमें से बाकी बुराइयाँ पैदा हो जायेंगी। कुछ वीतराग महात्माओं की बात छोड़ दें, साधारणतया शक्ति और जीवन के भोग—स्तर इनमें कुछ सामंजस्य रखना होता है। भृत्यवर्ग की तनखाहों के निर्धारण में भी हमें इसका विचार करके चलना होगा अन्यथा वहाँ भ्रष्टाचार के लिए काफी गुंजाइश हो जाएगी। इसलिए जहाँ शासन राष्ट्रीयकरण के द्वारा बड़े-बड़े कारखानों पर आधिपत्य कर लेता है, वहाँ भी बड़ी-बड़ी तनखाहों की व्यवस्था करनी होती है। आज तो जब एक ओर निजी क्षेत्र में लोगों को तथा विदेशी तज्ज्ञों को भारी पारिश्रमिक मिल रहे हों शासन भी एकाएक अपने क्षेत्र में वह कभी नहीं कर सकता। अतः विषमताओं को कम करने के लिए हमें उत्पादन की प्रणाली को ही विकेन्द्रित करना पड़ेगा।

निजी सम्पत्ति का प्रश्न

साधारणतया काम और उसके लिए मिलने वाले पारिश्रमिक से भारी विषमताएँ नहीं पैदा होतीं। वह तो निजी सम्पत्ति पर मनुष्य के अधिकार एवं उसके उपयोग द्वारा अनर्जित आय की उपलब्धि से बढ़ती हैं। इस आधार पर समाजवादी निजी सम्पत्ति को ही समाप्त करने की बात करते हैं। किन्तु उनके सिद्धान्त और व्यवहार का दोनों ही दृष्टियों से समर्थन करना कठिन है। यद्यपि सृष्टि के आरम्भ से ही अपरिग्रह एवं “मा गृधः कस्य स्विद्धनम्” का उपदेश मिला है किन्तु यह संसार मेरा और तेरा का ही नाम है। साम्यवादी, जो निजी सम्पत्ति की भावना को जड़मूल से समाप्त कर देना चाहते थे, पहिले पर्सनल (व्यक्तिगत) और फिर कुछ अंश तक निजी सम्पत्ति को भी स्वीकार करने लगे। निजी सम्पत्ति के कारण बुराइयाँ उत्पन्न होने पर भी हम उसका बहिष्कार नहीं कर सकते। हाँ हमें निजी सम्पत्ति की मर्यादाएँ अवश्य स्थापित करनी होंगी। विकेन्द्रीकरण इन मर्यादाओं की स्थापना का कार्यक्रम है।

विकेन्द्रीकरण के विभिन्न स्वरूप

पश्चिम की बड़े आधार की प्रौद्योगिकी और विकेन्द्रीकरण एक साथ नहीं चल सकते। बहुत से लोग विकेन्द्रीकरण का अर्थ केवल प्रादेशिक विचार से करते हैं। वे विकेन्द्रीकरण के नाम पर बम्बई और अहमदाबाद जैसे कारखानों को गाँवों में स्थापित करके समाधान कर लेंगे। समाजवादी राजनीतिक शक्ति का बंटवारा करके सन्तुष्ट हो जायेगा तथा गाँव, जिला, प्रान्त और केन्द्र के चौखम्भे राज्य के रूप में उसका समाजवाद पनपेगा। किन्तु हर स्थान पर पर आर्थिक शक्ति राज्य की इकाइयों के हाथ में रहेगी तथा जिस प्रौद्योगिकी को लेकर स्थान-स्थान पर उत्पादन होगा वह पश्चिमी ढंग का ही होगा। उनका झगड़ा स्वामित्व के बंटवारे का है, मौलिक नहीं। सर्वोदयवादी वर्तमान तकनीकी का तो विरोध करता है किन्तु उसके ग्रामराज्य में सम्पूर्ण गाँव की भूमि पर कृषि एक चक्र के रूप में ग्राम पंचायत की देखरेख में होगी। गाँव की शेष आर्थिक व्यवस्था भी पंचायत के अधीन रहेगी। व्यवहार में यह स्थिति रूस की सामूहिक खेती से भी खराब होगी। इसमें न तो आधुनिक मशीनें ही प्राप्त होंगी और न व्यक्ति को उत्पादन की स्वतन्त्रता। समाजवादी तो वे फिर किसी रूप-रंग में क्यों न हो, पश्चिमी प्रौद्योगिकी में अमिट श्रद्धा लेकर चलते हैं। उनकी लड़ाई मशीन से नहीं बल्कि मशीन के मालिक से है। फलतः वे उसकी मल्लिकयत राज्य को सौंपकर

समाधान मान लेते हैं। सर्वोदयवादियों ने मशीन की बुराइयों समझीं और इसीलिए उसका बहिष्कार किया; निजी सम्पत्ति की बुराइयों देखीं इसलिए उसे समाप्त करने का बीड़ा उठाया। समाजवादी राज्य की भारी और निरंकुश शक्ति देखकर उसे भी त्याज्य ठहराया तथा शासनविहीन समाज में सम्पूर्ण शक्ति गांव की पंचायत को सौंप दी। यह सब अव्यावहारिक तो है ही किन्तु जिन बुराइयों से हमारा बचने का प्रयास है वे अन्य रूप में पैदा हो जायेंगी। विकेन्द्रीकरण की यह विडम्बना है। ये सभी विचारधाराएँ मानव को हाड़मांस का बना हुआ, त्रिविधगुण सम्पन्न, इच्छा, आकांक्षाओं तथा भावनाओं वाला जीवित प्राणी न मान कर उसके किसी भाव-स्वरूप की कल्पना लेकर ही अपनी रचना करती हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की विचार लेकर चलने वाले प्रजातन्त्र ने यदि एक "अर्थ-मानव" की सृष्टि की तो साम्यवाद ने एक 'सामान्य जन' (Mass man) की उत्पत्ति की। यह सामान्यजन भगवान की सृष्टि नहीं बल्कि राज्य द्वारा रचा जाता है। "राज्य ही उसके सम्पूर्ण विचारों, भावनाओं, क्रियाओं और आदर्शों का विधान करता है उसे विचार, व्यक्तिगत निर्णय और निश्चय से स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है और बदले में उसे एक मशीन-मानव की सुरक्षा प्राप्त होती है।" सर्वोदयवादी भी एक वैसे ही भाव-जन की कल्पना लेकर चलता है जो सर्वस्वार्पण भाव से सर्वोदयवादी मनोवृत्ति से काम करता चला जाएगा।

साम्यवाद और पूंजीवाद में समानता

वर्तमान साम्यवाद तथा पूंजीवाद दोनों में स्वामित्व के स्वरूप का अन्तर छोड़कर और कोई फर्क नहीं। अतः दोनों में ही व्यक्ति के विकास की कोई सुविधा नहीं तथा आर्थिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ नाम मात्र की ही प्राप्त हैं। साम्यवाद के सम्बन्ध में तो प्रिंस क्रोपाटकिन ने 1904 में ही लिखा था : "देखना है कि वे इस शताब्दी की प्रभावी प्रवृत्तियाँ, विकेन्द्रीकरण, स्वराज्य तथा स्वतन्त्र समझौते, का अनुशरण करते हैं या उसके विपरीत विनष्टसत्ता को पुनः प्रतिष्ठापित करते हैं।" रूस में साम्यवादी क्रान्ति के पश्चात् उन्होंने पश्चिमी यूरोप में मजदूरों को एक पत्र में लिखा था : "मेरा यह कर्तव्य है कि आपसे बता दूँ कि मेरी सम्पत्ति में एक केन्द्रित राज्य और अत्यधिक कठोर पार्टी डिक्टेटरशिप के सहारे रूस में साम्यवाद स्थापित करने का प्रयास निश्चित ही असफल होगा। हम रूस में यह सीख रहे हैं कि साम्यवाद को कैसे न लाया जाये। जब तक देश का शासन एकदलीय तानाशाही से होगा, मजदूर और किसानों की परिषद बेमानी और अप्रभावी रहेगी। यहाँ ऐसी नौकरशाही विकसित हो जायेगी जो फ्रांस को भी मात कर देगी जहाँ कि सड़क पर तूफान से गिरे हुए पेड़ को हटाने का आदेश देने के लिए कम से कम चालीस अफसरों की आवश्यकता होती है।" प्रिंस क्रोपाटकिन जिस कम्युनिज्म की कल्पना करते थे वही सच्चा कम्युनिज्म है या जो रूस में आज चल रहा है यह तो कहना कठिन है किन्तु यह सत्य है कि समाजवाद अफसरीकरण का ही दूसरा नाम है।

विकेन्द्रीकरण की इकाई व्यक्ति और कुटुम्ब

विकेन्द्रीकरण की मौलिक इकाई है व्यक्ति और कुटुम्ब। व्यक्ति के प्रयत्नों तथा कुटुम्ब के सहारे और स्वामित्व के द्वारा कभी व्यापक रूप से विषमता अथवा शोषण की सम्भावनाएँ नहीं उत्पन्न हो सकती हैं। ये प्रवृत्तियाँ तो तब बलवती हुई जब व्यक्ति इन मर्यादाओं से आगे निकलकर सामूहिक संस्थाओं और निगमों के द्वारा अधिकधिक शक्तियों का स्वामी बनता गया। अतः साधारणतया उत्पादन का आधार व्यक्ति कुटुम्ब होना चाहिए। हमें उस प्रणाली को अपना पड़ेगा जिसमें हम कुटुम्ब की इकाई को ही उत्पादन की इकाई बना सकें। खेती में इस प्रकार हम भूस्वामी कृषि (Peasant proprietor farming) उपयुक्त समझते हैं।

उद्योगों में भी कुटीर और छोटे-छोटे उद्योग, जो घर में ही चलाये जा सकते हों, हमारे व्यापक औद्योगीकरण का कार्यक्रम होंगे। हाँ, इनमें हम अच्छी से अच्छी मशीनों और बिजली का उपयोग कर सकते हैं।

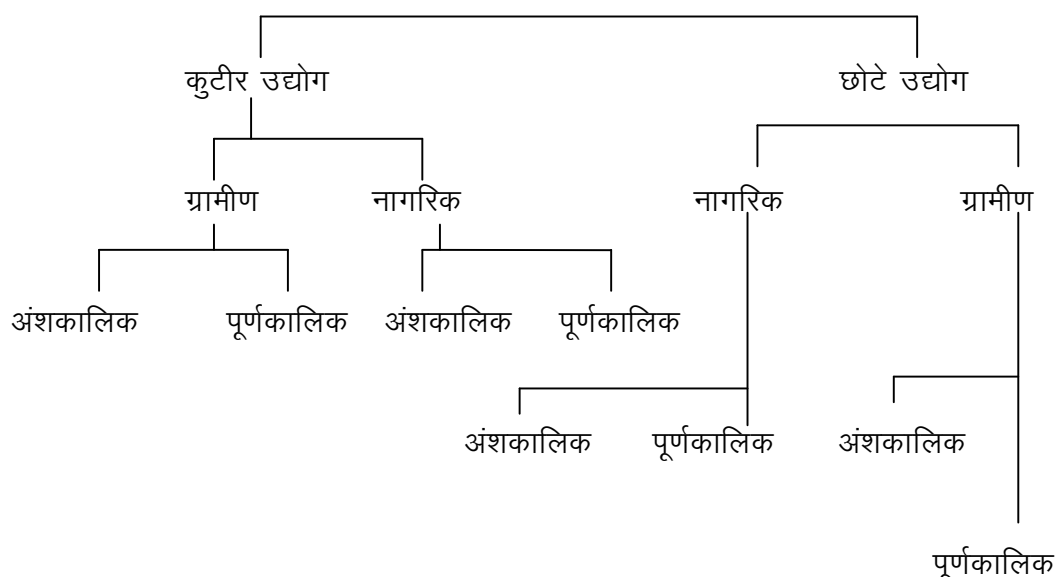
छोटे कारखाने

यद्यपि हम सामान्य रूप से इन छोटे उद्योगों को ही आधार मानकर चलेंगे, किन्तु कुछ ऐसी वस्तुएँ भी रहेंगी जिनका उत्पादन केवल घर में बैठकर नहीं हो सकेगा। इनके लिए हमें छोटे-छोटे कारखाने स्थापित करने पड़ेंगे। छोटे कारखानों की व्याख्या तो कठिन है किन्तु आजकल शासन ने उन कारखानों को छोटे उद्योगों की संज्ञा दी है जिनमें 5 लाख तक पूंजी लगी हो तथा 50 तक मजदूर काम करते हों। हम भी इसे स्वीकार करके चलेंगे। साधारण व्यवहार 90 प्रतिशत से अधिक वस्तुएँ इस अनुमाप (Scale) पर तैयार की जा सकती हैं। जो अन्य चीजें बचेंगी उन्हें बड़े कारखानों में बनाया जा सकेगा। किन्तु साधारणतया इन कारखानों में छोटे कारखानों में बनी चीजों के संग्रह और एकत्रीकरण की ही आवश्यकता पड़ेगी।

छोटे और कुटीर उद्योगों के प्रकार

देश-कालानुसार सामान्यतया छोटे और कुटीर उद्योगों में भेद किया जाता है। जिन उद्योगों में बिजली या मशीन की शक्ति का उपयोग न हो उन्हें कुटीर उद्योग कहने की आदत पड़ गई है। कई बार पुराने ग्रामोद्योग भी इस परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु जैसे-जैसे बिजली का उपयोग अधिक होगा दोनों के बीच भेद करना कठिन हो जायेगा। हम, जिन्हें साधारणतया छोटे उद्योग कहते हैं, उन पर बल देते हैं। सन् 1949-50 के उद्योग-रक्षा आयोग (Fiscal Commission) ने इनका निम्नलिखित रूप में वर्गीकरण किया है :-

कुटीर एवं छोटे उद्योग



1. अंशकालिक ग्रामीण कुटीर उद्योगों के अन्तर्गत वे सभी उद्योग आते हैं जिनमें कृषक खाली समय का उपयोग करता है, जैसे रस्सी बटना, हाथकरघा, कोष कृमिपालन, डलिया बनाना आदि।

2. पूर्णकालिक ग्रामीण कुटीर उद्योगों में बढ़ई, लुहार, कुम्हार, तेली आदि के काम आते हैं।
3. अंशकालिक नागरिक कुटीर उद्योगों में खिलौने, आचार-मुरब्बे, कागज के लिफाफे आदि बनाने के कुछ उद्योग, किन्तु अभी इस क्षेत्र में बहुत से काम प्रारम्भ किये जा सकते हैं।
4. पूर्णकालिक नागरिक कुटीर उद्योगों में सुनार, दर्जी, बढ़ई, हाथीदांत, बरतन बनाने, जैसे ईंट बनाना आदि।
5. पूर्णकालिक छोटे नागरिक उद्योगों का काफी विकास हो रहा है। इमने होजरी के कारखाने, अभियान्त्रिकी, साइकिल के पुर्जे, रेशम और सूती वस्त्र, सिलाई की मशीनें आदि अनेक चीजें बनती हैं। ये शहर की छोटी फैक्ट्रियाँ हैं, यद्यपि उन पर फैक्टरी एक्ट लागू नहीं होता।
6. अंशकालिक ग्रामीण लघु-उद्योग में धन कूटने, खंडसारी, गुड आदि का विधायन आता है।
7. पूर्ण कालिक ग्रामीण लघु-उद्योग का प्रायः अभाव है। वैसे मोतीहारी के आस-पास सीप के बटन,, फिरोजाबाद के पास चूड़ियाँ रुड़की के पास ड्राइंग और इंजीनियरिंग का सामान आदि इसी प्रकार बनते हैं। यदि हम वास्तव में देश का औद्योगिक ढाँचा बदलना चाहते हैं तो हमें इस वर्ग के उद्योगों की प्रतिष्ठापना करनी होगी। इससे हम गांवों को पुनरुज्जीवित कर सकेंगे तथा नगरों की बहुत सी बुराइयों से भी बच सकेंगे।

छोटे उद्योग-सापेक्षिक स्थान

जब हम छोटे उद्योगों की बात करते हैं तो अनेक अर्थशास्त्री उपरिनिर्दिष्ट वर्गों में से अनेक छोटे-छोटे कार्यों को लेकर उनकी व्यापकता और अजेयता का प्रतिपादन करके समाधान मान लेते हैं। यह तो सत्य है कि बहुत से काम ऐसे हैं जिनमें कुटीर और छोटे उद्योगों के लिए सदैव ही स्थान रहेगा। जहां व्यक्तिगत अभिरुचि और कला को ही महत्व है वहां मशीन और बड़े पैमाने के उद्योग नहीं आ सकते। किन्तु जब हम उन्हें औद्योगीकरण का अभिन्न एवं आधारभूत अंग बनाने की बात करते हैं तो हम एक व्यापक दृष्टि से विचार करते हैं। आज चलने वाले बड़े उद्योगों के साथ सापेक्षिक दृष्टि से देखें तो इन उद्योगों को तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं :-

1. स्वतन्त्र अस्तित्व वाले उद्योग, जिनमें छोटे आधार पर काम करने में विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं तथा जिन्हे बड़े उद्योग सहज ही नहीं हटा सकते। जैसे ताले, मोमबत्ती, कैंची, चप्पल, बटन आदि का बनाना।
2. वे उद्योग, जो बड़े उद्योगों के साथ संलग्न होकर वस्तु के किसी अंश के उत्पादन में भाग ले सकते हैं। जैसे बिजली का सामान, साइकिल आदि।
3. वे उद्योग, जिन्हें बड़े उद्योगों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है, जैसे कपड़ा।

जहाँ तक प्रथम वर्ग के उद्योगों का प्रश्न है हम उन्हें तो उद्योगों की सामान्य सुविधाएँ, ऋण, विपणन, प्रशिक्षण आदि को प्रदान किए जाने की व्यवस्था करके उन्हें विकास के लिए स्वतन्त्र छोड़ सकते हैं।

छोटे और बड़े उद्योगों का गठबन्धन

दूसरे वर्ग में ऐसा बहुत क्षेत्र है जहां यदि हम थोड़ा भी ध्यान दें तो बहुत प्रगति हो सकती है। बड़े उद्योगों और छोटे उद्योगों का सम्बन्ध दो प्रकार से हो सकता है : एक, जहाँ उत्पादक वस्तुएँ बड़े उद्योग तैयार करें तथा उपभोग-वस्तुएँ छोटे उद्योगों द्वारा बनाई जायें। जैसे प्लास्टिक का चूर्ण, रेयन के तन्तु, इस्पात की चद्दरें, लोहे का तार आदि समान बड़े पैमाने पर तैयार करके इनके द्वारा उपभोग की हजारों प्रकार की वस्तुएँ छोटे पैमाने पर बनानी चाहिए। दूसरी पद्धति में उपभोग- वस्तु के उत्पादन में काम में आने वाली वस्तुओं को अलग-अलग छोटे पैमाने पर तैयार करना तथा उनका एकत्रीकरण बड़े कारखानों में करना, जैसे स्विट्जरलैण्ड में घड़ियों के पुर्जे छोटे-छोटे शिल्पियों द्वारा तैयार किया जाता है। मोटर आदि जितनी बड़ी-बड़ी चीजें हैं उनके बहुत से भाग इस प्रकार तैयार किये जा सकते हैं। जापान में इस दृष्टि से बहुत काम हुआ। वहाँ रेलगाड़ियाँ बनाने में 77 प्रतिशत, जहाज बनाने में 70 प्रतिशत तथा मोटर के निर्माण में 62 प्रतिशत इन छोटे उद्योगों द्वारा तैयार सामान प्रयुक्त होता है। छोटे-छोटे उत्पादकों को न तो बाजार का ज्ञान है और न उत्पादन-विधि का।

यदि उपर्युक्त दो वर्गों के उद्योगों को भली-भांति स्थापित कर दिया जाय तो प्रतिस्पर्धी उद्योगों का क्षेत्र बहुत सीमित हो जायेगा। इस क्षेत्र में सबसे प्रमुख उद्योग हाथ-करघा है। शासन ने उसे सहायता पहुंचाने के लिए कुछ कदम अवश्य उठाये हैं किन्तु जब तक इस उद्योग को आर्थिक नहीं बनाया जायेगा, प्रशासनिक संरक्षण से वह उपभोक्ताओं पर भार बनकर ही रहेगा। यदि सूत की सस्ती व्यवस्था की जा सके तो कार्य कठिन नहीं है। खादी और चरखा (अम्बर चरखा सहित) के चक्कर को छोड़कर यदि हाथ-करघा उद्योग पर ही शासन अपनी शक्ति और धन का व्यय करेगा तो अनतिदूर भविष्य में वह अपने पैरों पर खड़ा होकर देश को कपड़ा-उद्योग का एक सबल सहायोगी बन जायेगा।

लघु उद्योगों में किफायत

लघु-उद्योगों के सम्बन्ध में यह भ्रम भारी घर करके बैठ गया है कि वे कभी आर्थिक (Economics) नहीं हो सकते तथा उनके उत्पादन बाजार में बड़े उद्योगों की वस्तुओं की तुलना में नहीं टिक सकते। जब विदेशों से प्रतिस्पर्द्धा का प्रश्न आता है तो छोटे उद्योगों के बड़े-बड़े समर्थकों के पैरों तले से धरती खिसक जाती है। वे इन उद्योगों का राजनीतिक, सामाजिक एवं नैतिक आधार पर समर्थन करते हैं तथा यह मानकर संतोष कर लेते हैं कि अर्थ ही तो सब कुछ नहीं होता। यद्यपि हम उनके अतिरिक्त कारणों से सहमत हैं किन्तु साथ ही हम यह भी मानकर चलते हैं कि भारतवर्ष में आर्थिक दृष्टि से छोटे उद्योग ही हमारे लिए वांछित हैं।

यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो अर्थशास्त्र में बड़े पैमाने पर उत्पादन की जिन किफायतों (Economics) का वर्णन किया जाता है अब उनमें बहुत परिवर्तन हो गया है। सत्य तो यह है कि 'किफायतें' बड़े पैमाने पर उत्पादन से नहीं, अधिक उत्पादन के कारण होती हैं। अगर हम इतिहास को देखें तो ब्रिटेन में बड़े पैमाने पर कपड़ा तैयार होने पर भी भारत का कपड़ा वहां जाकर सस्ता पड़ता था। जापान की वस्तुएँ सस्ती आकर बाजार से बाकी सब माल को निकाल देती हैं, बड़े कारखानों में नहीं, घरों में बनती हैं। यदि अधिक उत्पादन नहीं हुआ तो बड़े पैमाने के उद्योगों की ऊपरी व्यवस्था का ही इतना खर्च आता है कि उत्पादन-व्यय बढ़े बिना नहीं रह सकता। आज देश में जो छोटे आधार पर नये उद्योग खड़े हैं वे प्रतिस्पर्द्धा में अच्छी तरह टक्कर ले रहे हैं। यदि उनकी असुविधाएँ दूर कर दी जायें तथा बड़े उद्योगों को जो सुविधाएँ अर्थातिरिक्त कारणों से प्राप्त हैं, न मिलें तो निश्चित ही वे बाजी मार ले जायेंगे। हमें मालूम है कि

1930-37 के काल में छोटे-छोटे मोटर चलाने वालों ने रेलों को प्रतियोगिता में पछाड़ दिया था। यदि शासन और युद्ध रेलों की मदद को नहीं आते तो उनके लिए जीवित रहना कठिन हो जाता।

बड़े उद्योगों की 'किफायत' की सच्चाई

श्री एम. एम. मेहता ने अपनी पुस्तक **Structure of Indian Industrise** भारतीय उद्योगों का ढाँचा में बड़े उद्योगों की वृद्धि का विशद विश्लेषण किया है। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि :

1. बड़े उद्योगों की 'किफायतें' मुक्त एवं उचित प्रतियोगिता के कारण नहीं बल्कि उसे दबाकर डाका डालने वाली व्यापारी क्रियाओं से प्राप्त होती है।
2. बड़े उद्योगों की दूसरे पक्षों से अपने लिए हितकर और अच्छी शर्तें मनवाने की क्षमता कार्यकुशलता का फल नहीं अपितु आर्थिक एवं वित्तीय सामर्थ्य के परिणामस्वरूप है।
3. बड़े उद्योग बहुधा मजदूरों का शोषण करते हैं, ऊँचे मूल्य लेते हैं, तथा अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए वैज्ञानिक सुधारों को दबा देते हैं।
4. एक बार बाजार पर आधिपत्य स्थापित करने के बाद उनकी औद्योगिक कुशलता की प्रेरणा नष्ट हो जाती है।
5. अधिकांश उद्योग धीरे-धीरे विकास के आधार पर नहीं बल्कि वित्तीय और प्रशासनिक एकीकरण के कारण बढ़े हैं। इस बृहदीकरण के पीछे वास्तविक मंशा औद्योगिक कुशलता बढ़ाना नहीं, बल्कि मूल्यों और उत्पादन का नियमन करके प्रतिस्पर्धा का समाप्त कर देना रहा है।
6. ये उद्योग मन्दी के समय, जब अपनी अधिकाधिक योग्यता तथा आर्थिक क्षमता दिखाने का अवसर रहता है, नहीं बढ़े बल्कि तेजी से उस काल में बढ़े हैं जबकि सिक्यूरिटियों और स्टॉक से ज्यादा से ज्यादा कमाने का मौका रहता है।
7. ये इतने बड़े हैं कि इनका आर्थिक दृष्टि से संचालन नहीं किया जा सकता।

हम यह जानते हैं कि बैंको, रेलों, आढ़तियों आदि सबकी सुविधा इन बड़े उद्योगों को सहज मिल जाती है। उद्योगों और बैंकों का परस्पर सम्बन्ध होने के कारण वे सदैव ही कम ब्याज पर रुपया प्राप्त कर लेते हैं, जबकि छोटे उद्योगों को भारी ब्याज देकर भी पूंजी प्राप्त नहीं होती, शासन भी सदैव बड़े उद्योगों की ही सहायता करता है। छोटे उद्योग असंघटित होने के कारण आज की बाजार अर्थ-व्यवस्था में कच्चे माल की प्राप्ति से लेकर पक्के माल के बेचने तक की श्रृंखला की व्यवस्था नहीं कर पाते। एक बार यह श्रृंखला पूरी हो गई तो फिर उनका मुकाबला करना कठिन होगा। शासन का कर्तव्य है कि वह इस संघटन को खड़ा करने में सहायक हो।

बड़े उद्योगों के क्षेत्र

छोटे उद्योगों के अनेक गुण एवं बड़ों से होने वाली बुराईयों के उपरान्त भी कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ हमें अपरिहार्य रूप से बड़े उद्योगों की स्थापना करनी पड़ेगी, किन्तु इस 'अपरिहार्यता' का विचार सम्पूर्ण पूर्वग्रह एवं पश्चिमी अर्थशास्त्र की मान्यताओं से मुक्त होकर करना होगा। कारण, छोटे उद्योगों का क्षेत्र, जो एक बार काफी संकुचित हो गया था, विषद होता जा रहा है। जिन वस्तुओं के छोटे आधार पर उत्पादन की हम कल्पना नहीं कर सकते वे अच्छी और आर्थिक आधार पर पैदा की जाने लगी हैं। हाल ही में चीन के एक समाचार ने कि वहाँ इस्पात भी छोटे आधार पर पैदा किया गया है, औद्योगिक क्षेत्र में छोटे उद्योगों के

विकास की सम्भावनाओं को काफी बढ़ा दिया है। साधारणतया कारीगरी, कुशलता तथा पूंजी और साधनों की आवश्यक मात्रा के आधार पर उद्योगों का हम निम्नलिखित वर्गीकरण कर सकते हैं—

1. न्यून प्रशिक्षण पर एवं हल्के, जैसे वस्त्र, जूते, रबर, ग्लास आदि।
2. अधिक प्रशिक्षण पर किन्तु हल्के : जैसे अभियान्त्रिकी, पच्चीकारी आदि।
3. न्यून प्रशिक्षण पर और भारी : सीमेन्ट, उर्वरक आदि।
4. अधिक प्रशिक्षण पर और भारी : खनिज तेल, इस्पात आदि।

तीसरे और चौथे प्रकार के ऐसे उद्योग हैं; जिन्हें हमें बड़े पैमाने पर प्रारम्भ करना पड़ेगा। किन्तु इनका क्षेत्र सीमित है तथा देश के उद्योगधन्धों के लिए आधारभूत वस्तुओं की व्यवस्था करते हुए भी देश के औद्योगिक मानचित्र में उनका स्थान छोटा ही रहेगा। इन उद्योगों की स्थापना में हमें उपलब्ध उत्पादनों का जिनका पीछे विवेचन किया जा चुका है, विचार करना होगा।

उद्योगों का स्वामित्व

उद्योगों के स्वामित्व के प्रश्न को पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के प्रादुर्भाव एवं उसकी प्रतिक्रिया के रूप में समाजवादी विचारधारा के जन्म के बाद से काफी महत्व प्राप्त हो गया है। जहाँ पूंजीवादी व्यक्ति को ही स्वामित्व का प्रधान एवं एकमेव अधिकार देते हैं वहाँ समाजवादी वह अधिकार राज्य को देते हैं। स्वामित्व के अनिर्बन्ध नियन्त्रण एवं मनमाने उपभोग की धारणाओं ने इस विषय को गलत पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है। किसी भी वस्तु के ऊपर मेरा स्वामित्व होने के बाद भी मुझे यह अधिकार प्राप्त नहीं कि मैं उसका चाहे जैसा उपभोग करूँ। स्वामित्व एवं उपभोग की दोनों भावनाओं को जब तक हम अलग-अलग नहीं करेंगे तब तक हम होने वाली बुराइयों को नहीं रोक सकेंगे। जिस वस्तु का मैं स्वामी हूँ उसका उपभोग समाज-हित में करने का ही मुझे अधिकार है, यह विचार प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख होना चाहिए। यदि यह विचार नहीं तो उसके हाथ से स्वामित्व छीन लेने का भी कोई अर्थ नहीं। राज्य भी जब स्वामित्व ग्रहण कर लेता है तो वह व्यक्तियों के द्वारा ही व्यवस्था करता है। यदि समाज-हित का विचार करने वाले व्यक्तियों का अभाव रहा तो इस अवस्था में भी ठीक-ठीक व्यवस्था नहीं हो पायेगी। जो व्यक्ति आज अपनी चीज का मनमाना उपयोग करने से नहीं डरता वह समाज की वस्तु का उपयोग वैसे नहीं करेगा इसकी गारन्टी नहीं दी जा सकती। यदि उसके दुरुपयोग को रोकने के लिए दण्ड नीति का उपयोग करना आवश्यक समझते हैं तो वह तो उसके पास स्वामित्व का अधिकार रहते हुए भी काम में लाई जा सकती है। समाजवादी यह धारणा लेकर चलते हैं कि किसी भी देश के उद्योगपति सदैव ही समाजहित के विरोध में तथा अफसर समाज हित में व्यवहार करते हैं।^{****} वास्तविकता तो यह है कि एक बार समाज का स्वामित्व आने पर दण्डनीति और अर्थनीति का अधिकार एक ही जगह केन्द्रित हो जाता है और इसलिए दण्डनीति का समयोचित प्रयोग करके व्यवस्था के उल्लंघन को रोकना सम्भव नहीं रहता।

गम्भीरता से देखें तो स्वामित्व का अधिकार वास्तव में निश्चित मर्यादाओं और निश्चित उद्देश्यों के लिए किसी वस्तु के उपयोग का ही अधिकार है। समय के साथ इन अधिकारों में परिवर्तन होता रहता है। अतः हम सैद्धान्तिक दृष्टि से व्यक्ति और समाज के अधिकारों के झगड़े में नहीं पड़ेंगे। हमारे यहाँ तो समाज

**** The Contention that the 'private sector' acts in self-interest and the 'public sector' in general interest is "crude and misleading"

P.T. Baner & B.S. Yamey : The Economics of Underdeveloped Countries.

का केवल एक ही स्वरूप अर्थात् राज्य नहीं माना गया। व्यक्ति, कुटुम्ब, कुल, जाति, राज्य आदि अनेक रूपों में समाज अपने आपको अभिव्यक्त एवं उनके माध्यम से अपना मनोरथ सिद्ध करता है। व्यक्ति में समाजहित की भावना बनी रहे इसलिए हमारे यहाँ सम्मिलित कुटुम्ब की एक व्यावहारिक इकाई रखी गई जिसमें प्रत्येक व्यक्ति कमाने का अधिकारी है तथा सम्पत्ति का स्वामी कुटुम्ब रहता है। सम्पत्ति का उपभोग कुटुम्ब के हित में होता है, मनमाने ढंग से नहीं। ट्रस्टीशिप का यही भारतीय सिद्धान्त गांधी जी, गुरुजी आदि विचारकों ने समाज के सम्मुख रखा है।

जहाँ तक छोटे-छोटे उद्योगों का सम्बन्ध है, जिन्हें हमने अपने औद्योगिक कार्यक्रम का आधार बनाया है, वे निश्चित ही व्यक्तिगत स्वामित्व में रहेंगे। उनके राज्य के अधीन जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पूर्वी यूरोप के अनेक साम्यवादी देश तरह-तरह के प्रयत्न करने के बाद भी उनका राष्ट्रीयकरण नहीं कर पाये हैं। हंगरी में पिछली बार जो बड़ी भारी क्रान्ति हुई वह इस प्रकार के छोटे-छोटे व्यापारियों और शिल्पियों द्वारा भड़काई गई थी।

निजी और सार्वजनिक क्षेत्र

अब प्रश्न बड़े उद्योगों का आता है। इस सम्बन्ध में आज, जबकि हम देश का विकास कर रहे हैं, कोई रूढ़िवादी और सैद्धान्तिक (theoretical) दृष्टिकोण अपनाना ठीक नहीं होगा। विश्व बैंक के अध्यक्ष श्री ब्लैक ने अक्टूबर 1957 में विश्व के प्रमुख उद्योगपतियों के एक सम्मेलन में कहा था, "मैं पूँजीवाद के पुजारियों से, जो यह प्रचार करते हैं, उतना ही परेशान हूँ जितना समाजवादियों से, जो ये दावा करते हैं कि सार्वजनिक उद्यम ही सम्पूर्ण मांग को सन्तुष्ट कर सकता है।" अविकसित देशों में व्यावहारिक दृष्टि से निजी उद्योग और शासन दोनों की अपनी-अपनी मर्यादाएँ रहती हैं। जहाँ एक ओर शासन के पास उद्योग-धन्धों और व्यवसायों का ज्ञान रखने वाले योग्य, कार्यकुशल एवं ईमानदार कर्मचारियों का अभाव रहता है, वहाँ निजी क्षेत्र के पास पूँजी एवं अन्य साधनों की कमी रहती है। भारी उद्योगों में पूँजी बहुत लगानी होती है। निजी क्षेत्र में ऐ लोग प्रायः नहीं मिलते जो यह जोखिम उठा सकें। इसलिए कहा गया है कि अविकसित देशों में सबसे दुर्लभ उत्पादन यदि कोई है तो वह 'जोखिम उठाने वाला' उद्यमी (enterprise) है। ऐसी अवस्था में राज्य को स्वाभाविक ही आगे आना पड़ता है। समाजवाद से कोसों दूर भागने वाले कई देशी राज्यों ने इसी कारण अपनी ओर से उद्योग-धन्धों की स्थापना की। अतः व्यावहारिक नियम यही बनाया जा सकता है कि जहाँ निजी क्षेत्र न आ सकता हो, शासन प्रवेश करे। शासन का कार्य साधारणतया अर्थोत्पादन नहीं है।

उपर्युक्त व्यावहारिक मर्यादाओं के अन्तर्गत आज यह कह सकते हैं कि सुरक्षा और आधारभूत उद्योगों को राज्य के स्वामित्व में रहना चाहिए। इनके विकास का दायित्व आज शासन को लेना आवश्यक है। किन्तु इन क्षेत्रों में भी (सुरक्षा उद्योगों को छोड़कर जो कि राज्य के अधीन ही रहने चाहिए) यदि निजी प्रयत्नों से कुछ उद्योग स्थापित हो गये हैं तो उनका राष्ट्रीयकरण करने की आवश्यकता नहीं। यदि हम किसी वाद-विशेष से बँधे नहीं हैं तो राज्य के साधनों का उपयोग पुराने उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने की अपेक्षा राष्ट्र के लिए आवश्यक नये उद्योग-धन्धों की स्थापना में करना अधिक अच्छा होगा।

निजी उद्योगों का स्वामित्व

साधारणतया स्वामित्व का सम्बन्ध पैसे से लगाया जाता है। पण्यव्यवस्था की यह देन है। उद्योगों में भी पैसा लगाने वाला मालिक बन जाता है। जब पैसा लगाने वाला स्वयं ही प्राप्त औजारों और साधनों का प्रयोग करके निर्माण करता है तो कोई कठिनाई पैदा नहीं होती क्योंकि वह सम्पूर्ण मूल्य का स्वामी होता है। किन्तु जब उन औजारों का उपयोग करके कोई दूसरा उत्पादन करता है तो दोनों में उत्पादित मूल्यों के बंटवारे की समस्या के साथ उन औजारों के स्वामित्व का प्रश्न भी उपस्थित हो जाता है। कारण मजदूर का औजारों और यन्त्र के साथ घनिष्ट सम्बन्ध आता है। उसके ठीक-ठीक उपयोग पर ही उसकी उपजीविका निर्भर करती है। यदि उन यन्त्रों को बेच दिया जाय या अन्य किसी प्रकार से हस्तान्तरण कर दिया जाय तो उसका परिणाम मजदूर पर भी पड़ता है। अचल उत्पादन के साधन जैसे भूमि में श्रम करने वाले उत्पादक के स्वामित्व का अधिकार स्वीकार किया गया है। फिर क्यों न उद्योगों में भी मजदूर का स्वामित्व स्वीकार किया जाय? यह आश्चर्य का ही विषय है कि आजकल की संयुक्त पूंजी कम्पनियों में एक शेयर होल्डर तो, जो बहुधा किसी उद्योग से लाभांश के अतिरिक्त और कुछ सम्बन्ध नहीं रखता, स्वामित्व के अधिकार का उपयोग करे और जो मजदूर उस कारखाने में बराबर काम करता है, वास्तविक रूप से कलों को सक्रिय बनाता है तथा जिसकी पूरी जीविका उस उद्योग के भले-बुरे पर निर्भर है, सदैव ही परायापन अनुभव करता रहे। निस्पृहता की यह भूमिका ठीक नहीं। अतः आवश्यक है कि अंशधारी के साथ मजदूर को भी स्वामित्व के अधिकार प्राप्त हों तथा उसे लाभ और प्रबन्ध में भागीदार बनाया जाय। इस प्रकार श्रमिकों के प्रतिनिधि संचालक मण्डल में रहेंगे।

भारतीय शासन ने 1948 में एक समिति लाभ में बंटवारे के प्रश्न पर विचार करने के लिए बिठाई थी। समिति का मत था कि इससे औद्योगिक शान्ति बनाये रखने में सहायता मिलेगी तथा श्रम प्रबन्ध में उत्तरोत्तर हिस्सा ले सकेगा। उसने यह भी निर्णय किया कि किसी भी उद्योग में चुकता पूँजी पर 6 प्रतिशत का लाभ, तथा अन्य संचित निधियों से अंशदान काटकर शेष का 50 प्रतिशत श्रमिकों में बांटा जाय। प्रत्येक श्रमिक का भाग उसके विगत 12 महीनों के वेतन के अनुपात में रहे। समिति ने यह भी सिफारिश की थी कि कम से कम 6 उद्योगों— सूती वस्त्र, जूट, इस्पात, सीमेन्ट, सिगरेट तथा टायर—निर्माण में इसे प्रयोग के रूप में लागू किया जाय। किन्तु शासन ने अभी तक कोई सक्रिय पग नहीं उठाया है।

सार्वजनिक उद्योगों का प्रबन्ध

सार्वजनिक उद्योगों के कारण अधिकधिक शक्ति राज्य के हाथ में आती है। राज्य का प्रजातन्त्र में व्यावहारिक अर्थ होता है वह दल जिसके हाथ में शासन के सूत्र हों। इस प्रकार शासकीय दल के हाथ में अधिकधिक शक्ति आ जाती है। यह केन्द्रीकरण सदैव ही प्रजातन्त्र के लिए घातक होता है।

उद्योग-धन्धों को यदि सफलतापूर्वक चलाना है तो यह आवश्यक है कि उन्हें पूर्णतया आर्थिक आधार पर, सार्वजनिक हितों के अधीन चलाया जाय। अतः उन्हें दिन प्रतिदिन बदलने वाली दलीय राजनीति से अलिप्त रखना होगा। इस दृष्टि से उन्हें स्वायत्त निगमों के द्वारा परिचालित करना चाहिए दिन प्रतिदिन के व्यवहार में उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। किन्तु यह व्यवस्था भी करनी होगी कि उन पर संसदीय नियन्त्रण कर सके। श्रमिकों को प्रबन्ध में सहभागी बनाने की दृष्टि से सार्वजनिक उद्योगों को शेष का मार्गदर्शन चाहिए।

कर्मचारियों का स्वर

सार्वजनिक उद्योगों की सफलता भृत्य वर्ग की कुशलता और ईमानदारी पर बहुत निर्भर करती है। अभी तक हमें अंग्रेजों से जो प्रशासन विरासत में मिला है वह अकेले शासन की दृष्टि से जनता से विलग, अपनी कुछ विशेष प्रतिष्ठा की भावना लिए हुए बहूदेशीय आई.सी.एस. के बलबूते पर चलता आया है। शासन ने हाल में यद्यपि अपने हाथ-पांव तो बहुत फैला दिये हैं किन्तु विशेष उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए विशेष प्रशिक्षण प्राप्त एवं योग्यता के कर्मचारियों की नियुक्ति और व्यवस्था की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। हाल ही 600 नये आई.ए.एस. अफसरों की आवश्यक वृद्धि की गई है। यह भी निश्चय किया गया है कि उत्पादन, परिवहन, संचार लोहा और इस्पात तथा व्यापार और उद्योग मन्त्रालयों के अधीन एक औद्योगिक प्रबन्ध सेवा कायम की जाय। किन्तु इसमें भरती मुख्यतः सरकारी पदाधिकारियों में से ही होने वाली है। वे अपने दायित्व का ठीक निर्वाह नहीं कर पायेंगे। भ्रष्टाचार की व्यापकता सुपरिचित है। हमें उसे दूर करने के लिए भी कठोर कदम उठाने पड़ेंगे। यदि सार्वजनिक उद्योगों का ठीक प्रबन्ध नहीं हुआ तो वे भारत के भावी औद्योगीकरण की नींव रखने के स्थान पर जो कुछ निजी प्रेरणा से चल रहा है उसके मार्ग में रोड़े ही अटकावेंगे।



12. यातायात और व्यापार

कृषि और उद्योग के अतिरिक्त यातायात, वाणिज्य और समाज-सेवाओं के तथा मुद्रा, कर और मूल्य नीतियों के साथ सम्बन्ध आता है। विकासशील अर्थ-व्यवस्था में ये साधक और बाधक दोनों ही सिद्ध हो सकते हैं। इनके प्रकार और मात्रा दोनों परिणामकारी होते हैं।

यातायात

यातायात का विकास, यदि युद्ध जैसे बाह्य कारण छोड़ दें, तो मुख्यतया पण्य-व्यवस्था के साथ-साथ हुआ है। जैसे-जैसे यातायात की सुविधाएँ बढ़ती गई हैं, किसी भी वस्तु का बाजार भी विस्तृत होता गया है। विधायन और निर्माण के लिए भी माल को इधर-उधर ढोने की आवश्यकता रहती है। यह आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है यदि पश्चिमी ढंग की केन्द्रीकृत उत्पादन-प्रणाली अपनाई जाये। आज सिन्दरी के खाद के कारखाने के लिए प्रति दिन एक पूरी मालगाड़ी सुदूर राजस्थान से जिप्सम ले जाने के लिए चलानी पड़ती है। विस्तृत पण और बड़े पैमाने पर स्थानबद्ध उत्पादन प्रणाली ने यातायात पर बहुत भार डाल दिया है। यहाँ तक कि बिना उसका पर्याप्त विकास किए औद्योगीकरण असम्भव प्रतीत होता है। फलतः उद्योगों के प्रारम्भ करने के पहिले हमें अपने साधन और पूंजी का बहुत बड़ा भाग रेलों के विकास पर लगा देना पड़ता है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में संशोधित आंकड़ों के अनुसार रेलों पर 896.5 रुपया खर्च किया जाने वाला है जो कि अन्य किसी मद में किये जाने वाले खर्च से अधिक है, फिर भी हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति रेलें नहीं कर पायेंगी। आयोग ने अनुमान लगाया है कि सन् 1960-61 में 6.1 करोड़ टन माल ढोने की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु रेलें केवल 4.2 करोड़ टन ही ढो पाएंगी। यही हाल यात्रियों का है। उसमें भी भीड़ के कम होने की सम्भावना नहीं। कपड़े से सिलाई के दाम अधिक वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। इसमें इस कठिनाई पर गम्भीरता से विचार करना होगा।

यातायात की विषम समस्या हमारी उल्टी उद्योग-नीति एवं यातायात के सभी साधनों के समन्वित विकास की योजनाओं के अभाव का परिणाम है। यदि हम विकेन्द्रित उत्पादन-प्रणाली अपनावें तथा जहाँ कच्चा माल पैदा होता है तथा जहाँ पक्के माल के बाजार भी हैं वहीं उत्पादन करें तो यातायात पर से भार कम किया जा सकता है।

सड़क यातायात- बैलगाड़ी

रेलों के अतिरिक्त हमें सड़क और जल यातायात के साधनों का भी विकास करना चाहिए। अभी तक बैलगाड़ी और नावों से हमारा बहुत-सा आन्तरिक व्यापार होता था। किन्तु धीरे-धीरे उपेक्षा ने उनको समाप्तप्राय कर दिया है। किसान अपने माल को मण्डियों तक पहुंचाने के लिए अभी भी बैलगाड़ियों का उपयोग करता है किन्तु हम यदि उनके पहियों में थोड़ा सा सुधार कर दें तो वे कम से कम 50 मील की दूरी तक माल ढोने के काम आ सकती हैं। बैलगाड़ियों के द्वारा देश में लगभग 1 करोड़ लोग अंशकालिक तथा पूर्णकालिक काम पाते हैं। युद्ध के पूर्व भारत में बैलगाड़ियों में 250 करोड़ रुपये की पूंजी का अनुमान था। हाल के अनुमानों से वह 800 करोड़ रुपये की आंकी गई है, जब कि रेलों में लगी पूंजी 1956-57 में

1071.71 करोड़ रुपये है। बैलगाड़ी का उपहास करके इतनी बड़ी पूंजी का हास होने देना तथा यातायात के नये साधनों में पूंजी का अभाव अनुभव करना योग्य नहीं होगा।

मोटर यातायात

यातायात के अधुनिक साधनों में मोटर यातायात के विकास की बहुत सम्भावनाएँ हैं। खनिज तेल की जब तक खोज और उत्पादन पर्याप्त मात्रा में नहीं होता तब तक मोटरों देश की आत्मनिर्भरता^{****} की नीति के साथ अवश्य बेमेल रहेगी, किन्तु यातायात के संकट को दूर करने में उनकी भारी सहायता हो सकती है। दुर्भाग्य से शासन जिस नीति को लेकर चला है वह अभी तक सन् 1930 के बाद की मन्दी के काल में रेल-मोटर प्रतिस्पर्द्धा से उत्पन्न परिस्थितियों के आधार पर ही बनी है। दोनों के बीच समन्वय के नाम पर मोटर यातायात को बिल्कुल कुंठित कर दिया गया है। 'मोटर व्हेइकल्स कानून' में संशोधन के उपरान्त भी स्थिति सुधरी नहीं है। टैक्सों का बहुत भारी बोझा उन्हें वहन करना पड़ता है। विभिन्न प्रकार के करों से शासन को 78.73 करोड़ रु० की आय होती है। इसमें से 14.94 करोड़ आयात-कर के रूप में प्राप्त होता है। व्यय की दृष्टि से 27 करोड़ 94 लाख रु० सब प्रकार की सड़कों के रखरखाव पर तथा 4.5 करोड़ रु० केन्द्रीय सड़क फण्ड कोष में विनियुक्त होता है। शेष लगभग 37 करोड़ रु० की शासन को निबल आय होती है। 1955-56 तक सड़कों पर 456 रु० की पूंजी-विनियोग का अनुमान था। इस प्रकार शासन को लगभग 8 प्रतिशत का लाभ होता है, जबकि रेलों से 1950-51 के अभिसमय के अनुसार अलाभकारी एवं यौद्धिक लाइनों को छोड़कर शेष में लगी पूंजी पर केवल 4 प्र० श० का लाभांश मिलता है। प्रति गाड़ी कर जो कि 1944-45 में केवल 611 रु० था, 1954-55 में 1906 रु० था। 1957-58 में 2100 रु० हो गया। टैक्सों का भार ही नहीं, उसकी वसूली भी बड़ी असुविधाजनक है। अनेक शासन- संस्थाओं द्वारा वह वसूल होता है, जिसमें समय के अपव्यय के साथ अन्य कठिनाइयाँ भी उठानी पड़ती हैं। भारवाहक ट्रकों का कम से कम दस प्रतिशत समय चुंगी के नाकों पर खड़े रहने में बीतता है। इसका परिणाम उनकी संचालन कुशलता (Operational efficiency) पर पड़ता है। अच्छा हो कि चुंगी का भाग विक्रीकर या उत्पादन-कर में जोड़ दिया जाये। पंचवर्षीय योजना के अन्त में भारत में रेलों और मोटरों की संख्या इस प्रकार थी :- रेल, संवारी डिब्बे : 23,155; माल डिब्बे : 2,35,198; मोटर, बसें : 44,612; भारवाहक : 1,30,968।

1955 - 56 में सवारी गाड़ियों से 129.7 करोड़ यात्रियों ने 30 मील के औसत से यात्रा की, जबकि मोटर बसों से 300 करोड़ यात्रियों ने 12 मील के औसत से यात्रा की।

राष्ट्रीयकरण की अनुपयुक्तता

शासन की मोटर-यातायात के राष्ट्रीयकरण की नीति भी उचित नहीं। विकास की आवश्यकताओं के अतिरिक्त इस क्षेत्र में काम करने वाले अधिकांश मध्यमवर्गीय व्यक्ति हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में दिये गये आंकड़ों के अनुसार सन् 1951 में 47575 मोटर चालक थे। इनमें 25 के पास 100 से अधिक मोटरें, 50 के पास 50 और 100 के मध्य तथा 1500 के पास 5 और 50 के बीच मोटरें थीं। शेष 46000 से ऊपर ऐसे संचालक थे जिनके पास 5 से कम मोटरें थी। इन्हें हम पूंजीपति नहीं कह सकते। राष्ट्रीयकरण द्वारा इस प्रकार स्वतन्त्र व्यवसाइयों को समाप्त करना ठीक नहीं। राष्ट्रीयकृत मोटर यातायात का अनुभव भी कोई अच्छा नहीं। उसमें खर्चा और किराया दोनों की वृद्धि होती है।

**** भारत को 1956-57 में 81.88 करोड़ रु० तथा 1947-58 में 67.08 करोड़ रु० के खनिज तेल का आयात करना पड़ा था।

आज जब शासन के पास धन का अभाव है, यह बुद्धिमानी नहीं होगी कि वह उसे बसों का राष्ट्रीयकरण करने में लगावे। वास्तव में यदि उन्हें निजी क्षेत्र को सौंप दिया जाय तो शासन बहुत बड़े भार से मुक्त हो जायेगा। विकास की दृष्टि से भी आगे मोटरों को बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है।

रेलों के स्थान पर सड़कों का विकास विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक है। बहुधा तो रेलें केन्द्रीकरण में ही सहायक होती हैं। इस प्रश्न पर राष्ट्र संघ के आर्थिक आयोग का "यूरोप का आर्थिक सर्वेक्षण 1956" निम्न प्रकाश डालता है : यूरोप के औद्योगिक देशों में यातायात नीति के सम्मुख विषम समस्याएँ हैं। प्रारम्भिक औद्योगिकरण एवं घनी आबादी के कारण उनके यहां रेलों, आन्तरिक जलमार्गों एवं तटीय नौकावहन का एक जाल बिछा हुआ है। ये वहाँ जनसंख्या के केन्द्रीयकरण तथा सम्पूर्ण आर्थिक हलचलों के कुछ नगरों में सीमित होने के लिए जिम्मेदार हैं। सड़क और हवाई यातायात विकेन्द्रीकरण में सहायता दे सकता है। जैसा कि वह अमेरिका में कर रहा है। यद्यपि कुछ सरकारें सार्वजनिक स्वामित्व की रेलों की, सड़क यातायात की प्रतिस्पर्द्धा से रक्षा कर रही हैं।"

नौकायन

नौकायन की ओर तो बहुत ही कम ध्यान दिया गया है। आज भारत की नदियों से केवल 1557 मील शक्तिचालित नौकाओं तथा 3587 मील डांड से खेनेवाली नौकाएँ बची हैं। नहरों के लिए बड़े-बड़े बांधों में नदियों के ऊपरी भाग में पानी रोक लेने के कारण उनके तल छिछले हो गये। इस सबका परिणाम निषाद वर्ग की रोटी पर बहुत भारी पड़ी है। अभी भी लगभग एक करोड़ लोग नौकायन पर उपजीविका के लिए आश्रित हैं। यदि इसका विकास किया जाय तो यातायात का सबसे सस्ता साधन हो सकता है।

जहाजरानी

भारत यद्यपि किसी समय जलपोतों के निर्माण में अग्रणी था किन्तु आज स्थिति अत्यन्त निराशाजनक है। आज भारत के विदेशी व्यापार का केवल 6 प्रतिशत भारतीय जहाजों के द्वारा ढोया जाता है। यह अनुमान लगाया गया है कि लगभग 205 करोड़ रु० की विदेशी मुद्रा प्रति वर्ष हमें जहाजों द्वारा माल की ढुलाई, इन्श्योरेंस आदि में व्यय करनी पड़ती है। व्यापार की दृष्टि से ही नहीं सुरक्षा की दृष्टि से भी हमें जलयानों के विकास की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। हाल ही में केन्द्र द्वारा पारित मर्चेण्ट शिपिंग एक्ट में भारतीय हितों का उचित ध्यान नहीं रखा गया। शासन ने यद्यपि निर्णायक शक्तियाँ अपने हाथ में रखी हैं किन्तु विदेशी हितों के प्रवेश की व्यवस्था करके हमने भविष्य के लिए खतरा मोल लिया है। अन्य क्षेत्रों के समान यहाँ भी तटीय नौ-वहन में छोटी-छोटी नौकाएँ बहुत काम करती हैं। 1949 की सेलिंग वेसल्स समिति की रिपोर्ट के अनुसार उनकी संख्या लगभग 2600 थी जो प्रतिवर्ष 15 लाख टन तक माल ढोती हैं। उन पर काम करने वालों की संख्या का अनुमान 40,000 था। उनके विकास की योजना नहीं बनाई गई।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में भी आधुनिकता का शिकार बनकर अधिक पूँजीसाध्य योजनाओं को हाथ में लेने के बजाय अपने पास उपलब्ध साधनों का ही अधिकाधिक लाभ उठाना चाहिए। साथ ही अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए जहाँ यातायात के साधनों का विकास आवश्यक है वहाँ विकास की दिशा और गति भी इन साधनों की विकास क्षमता के अनुसार निश्चित करना चाहिए।

वाणिज्य

व्यापारी साधारणतया बिचौलिया समझा जाता है किन्तु उसका स्थान महत्वपूर्ण है। अनेक क्षेत्रों में सहकारी समितियाँ वह स्थान ग्रहण कर रही हैं परन्तु वे उसे पूरी तरह विस्थापित कर पायेंगी यह कहना कठिन है। भारत में व्यापार की द्विविध समस्याएँ हैं। एक तो यहाँ उपभोक्ता के हाथ में वस्तु के क्रय होने तक उसे अनेक हाथों से गुजरना होता है। फलतः मुनाफा लेने वालों की संख्या बढ़ती जाती है। दूसरे कच्चे माल का मूल्य निर्धारण दूर बाजारों की माँग और भावों के अनुसार होता है। यहाँ भी किसान को तरह-तरह की कटौतियाँ देनी होती हैं।

यदि औद्योगीकरण का जो ढाँचा हमने सुझाया है उसे अपनाया गया तो यह समस्या बहुत कुछ दूर हो जायेगी। साथ ही मण्डियों की योग्य व्यवस्था के लिए कई प्रदेशों में कानून बनाये गये हैं। शासन ने गोदामों की व्यवस्था का कार्यक्रम भी बनाया है।

यद्यपि भारत का अन्तर्देशीय व्यापार विदेशी व्यापार की तुलना में कहीं अधिक है फिर भी उसके ऊपर विपणन की दृष्टि से विदेशी प्रभाव अभी भारी मात्रा में है। श्री० सेन के अनुसार भारत का आन्तरिक व्यापार लगभग 28000 करोड़ रु० का है जबकि विदेशी व्यापार 13000 करोड़ का इस व्यापार का लगभग 60 प्रतिशत बन्दरगाहों तथा देश के विभिन्न भागों के बीच प्रभावित होता है। बम्बई, मद्रास व कलकत्ता उद्योग-धन्धों के ही नहीं, व्यापार के भी केन्द्र बन गये हैं। देश के आन्तरिक क्षेत्रों में सर्वप्रकार के विकास के साथ इस स्थिति में परिवर्तन आयेगा।

सरकारी व्यापार

जैसे-जैसे शासन आर्थिक क्षेत्र में अग्रसर हुआ है, व्यापार की ओर भी उसकी दृष्टि गई है तथा उस हेतु स्टेट ट्रेडिंग कार्पोरेशन की स्थापना हुई है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शासन द्वारा व्यापार का समर्थन नहीं किया जा सकता। हमारे यहाँ तो यह कहा है कि शासन को व्यापार तथा व्यापारी को शासन नहीं करना चाहिए। सरकारी व्यापार का समर्थन व्यापार नीति से तो नहीं, किन्तु मौद्रिक एवं वित्तीय नीतियों पर अवश्य किया जा सकता है। इसके द्वारा शासन बढ़ते हुए मूल्यों के समय अधिक राजस्व का अर्जन तथा कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं के मूल्यों का स्थिरीकरण भी कर सकता है। परन्तु इस बात का अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि राज्य किन वस्तुओं के व्यापार को अपने हाथ में लेगा। साथ ही जब तक अन्य उपायों से काम चल जाये इसका अवलम्बन नहीं करना चाहिए, क्योंकि राज्य के व्यापार के राष्ट्रीयकरण से पुरानी अवस्था को धक्का लगता है तथा कर-जांच-आयोग (1953-54) के प्रतिवेदन के अनुसार व्यापारी ज्ञान के विशेषज्ञ कर्मचारियों के अभाव में नई व्यवस्था जमाना सहज और शीघ्र सम्भव नहीं होगा।

जहाँ तक विदेशी-व्यापार का सम्बन्ध है और वह भी साम्यवादी देशों से, उनकी नियन्त्रित अर्थनीति के कारण राज्य द्वारा व्यापार उपयोगी सिद्ध हो सकता है। लौह-चूर्ण, मशीने तथा कुटीर-उद्योगों की वस्तुओं में अभी तक स्टेट ट्रेडिंग कार्पोरेशन ने अच्छा मुनाफा भी कमाया है।

गल्ले के व्यापार का राष्ट्रीयकरण

शासन ने हाल ही में गल्ले के व्यापार के राष्ट्रीयकरण का निर्णय लिया है। यह निर्णय अपनी पुरानी नीतियों की असफलता को छिपाने का एक प्रयास मात्र है। गल्ले के मूल्यों के स्थिरीकरण की आवश्यकता होते हुए भी शासन के इस पग का किसी भी दृष्टि से औचित्य नहीं ठहराया जा सकता। प्रथम

तो शासन को इस व्यापार में लगभग 400 करोड़ रु0 लगाना पड़ेगा। यह धन आज की शासन की राजस्व-स्थिति में जुटाना कठिन पड़ेगा। फिर यदि इसे कृषि उत्पादन-वृद्धि के कार्यक्रमों पर खर्च किया जाये तो हमें अधिक लाभ होगा। देश में 30 हजार गल्ले के थोक व्यापारी तथा 30 लाख परचून के व्यापारी हैं। शासन इन्हें कैसे स्थानान्तरित करेगा? क्या यह देश की बेरोजगारी में भारी वृद्धि नहीं करेगा? फिर सरकारी अफसरों व कर्मचारियों की एक भारी संख्या शासन के इस कार्यक्रम को पूरा करने के लिए लगेगी। शासन द्वारा व्यापार का राष्ट्रीयकरण केवल निर्धारित मूल्यों पर गल्ला खरीदने तक ही सीमित नहीं रहेगा। अपितु उसके अगले स्वाभाविक पग जबरिया गल्ला-वसूली तथा राशनिंग भी होंगे। हम कन्ट्रोल की बुराइयों का अनुभव कर चुके हैं। फिर से पुरानी गलतियों को दुहराना ठीक नहीं होगा।



13. समाज—सेवाएँ

विकासशील अर्थ—व्यवस्था में समाज—सेवाओं का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा और स्वास्थ्य की अवस्था पर व्यय किया हुआ धन एक प्रकार का विनियोजन है। अचल पूंजी के समान मानवीय पूंजी की भी उत्पादन वृद्धि के लिए आवश्यकता है। श्रमिक का प्रशिक्षण तथा उसे स्वस्थ बनाये रखने की व्यवस्था से हम श्रम का अधिकाधिक प्रतिफल प्राप्त कर सकते हैं। यह आवश्यक है कि उत्पादन—व्यवस्था के अनुरूप हम शिक्षा की व्यवस्था करें। शिक्षा और चिकित्सा दोनों ही दृष्टियों से उपलब्ध साधनों को अधिक कार्यक्षम बनाना ही उपयोगी होगा। अभियान्त्रिकी एवं औद्योगिकीय प्रशिक्षण के लिए विशेष केन्द्रों को खोलने के साथ—साथ प्रशिक्षार्थी—पद्धति का भी उपयोग करना चाहिए। छोटे—छोटे उद्योगों में उसके लिए हमारे यहाँ पर्याप्त व्यवस्था है। यदि शासन इस प्रकार निजी तौर पर प्रशिक्षित व्यक्तियों की परीक्षा की व्यवस्था करके उन्हें प्रमाण—पत्र दे दे तो बहुत तेजी से इस ओर आगे बढ़ सकते हैं। चिकित्सा के हेतु आयुर्वेद की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में कोई सैद्धान्तिक एवं विभिन्न चिकित्सा—पद्धतियों के तौलनिक वैज्ञानिकता के चक्कर में पड़ने की जरूरत नहीं। अधिकांश लोगों को तो साधारण चिकित्सा की आवश्यकता होती है। हाँ, इस प्रकार के चिकित्सक व्यापक रूप से उपलब्ध हो सकें तथा चिकित्सा सस्ती हो सके, यही महत्व का विषय है। निस्सन्देह आयुर्वेद ही इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है।

आर्थिक दृष्टि से

समाज—सेवा के कार्यक्रमों का एक अन्य आर्थिक पहलू भी है। शिक्षित बेकारों की समस्या को सुलझाने में इससे भारी सहायता मिलती है। यदि हमने प्राथमिक शिक्षा एवं साक्षरता का एक व्यापक कार्यक्रम लिया तो हम देश के सभी शिक्षित बेकारों को काम दे सकेंगे। किन्तु शासन के साधन स्रोतों का विचार करते हुए शिक्षा का यह क्षेत्र यदि विकेंद्रित करके ग्राम—पंचायतों के सुपुर्द कर दिया जाये तो ठीक रहेगा।

समाज—सेवाओं और भवन—निर्माण के कार्यक्रम साधारणतया जनता के क्रय—शक्ति बढ़ाने और इस प्रकार शिथिल अर्थ—व्यवस्था को चेतन करने के हेतु अपनाये जाते हैं। छोटे—छोटे उद्योग—धन्धों के बने माल को खपाने के लिए जहाँ एक ओर कृषक को फसल का उचित मूल्य प्रदान कर उसके हाथ में अधिक क्रयशक्ति देनी होगी, वहाँ दूसरी ओर उक्त कार्यक्रमों से अन्य बेकारों की आमदनी बढ़ानी होगी। यह बढ़ी हुई क्रयशक्ति अपने गुणक प्रभाव (multiple effect) से अनेक उद्योग—धन्धों को चालू रख सकेगी। विदेशों से पूंजी मंगाने और इस प्रकार समाज—सेवाओं पर खर्च करने में से यदि किसी एक ही को चुनना पड़े तो हम दूसरे को चुनेंगे। संविधान के निर्देशक सिद्धान्तों में सन् 1961 तक 6 से लेकर 11 वर्ष की अवस्था तक के बच्चों के लिए निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा का प्राविधान होते हुए भी शासन इसे बराबर टालता जा रहा है। द्वितीय पंचवर्षीया योजना के अनुसार केवल इस उम्र के बालक—बालिकाओं में से केवल 68.7 प्रतिशत के शिक्षण की व्यवस्था हो पायेगी। मई 1958 में आयोग द्वारा संशोधित आंकड़ों में शिक्षा, चिकित्सा आदि सभी समाज—सेवाओं पर किए जाने वाला व्यय 945 करोड़ रु० से घटाकर 833 करोड़ रु० कर दिया गया है।

सार्वजनिक निर्माण

सार्वजनिक निर्माण एवं भवन—निर्माण के कार्यक्रमों का भी अर्द्ध—विकसित देश के विकास—कार्यक्रमों में विशेष स्थान है। इसके द्वारा उन अनेक लोगों को काम मिलता है जिनके पास विशेष प्राविधिक ज्ञान तथा

पूंजी नहीं होती। यदि उनके पास कुछ आय आती है तो उसमें से बचत और पूंजीकरण की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत निर्माण के काम तो बहुत हुए, किन्तु उनमें हमने मशीनों का बहुत अधिक सहारा लिया है। फलतः व्यय-धन का जितना भाग जनता में वितरित होना चाहिए था उतना नहीं हुआ। सड़क पर और मकानों के बनाने में भी मानवीय श्रम की अपेक्षा मशीनों पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा है। यह गलत अर्थशास्त्र है। यदि हम लोगों को काम पर लगायेंगे तो केवल वे ही कुछ नहीं बचायेंगे बल्कि इससे उनके कुटुम्ब की, जिसके ऊपर वे बेरोजगारी की अवस्था में आश्रित रहते हैं, आय में से भी बचत की सम्भावनाएँ बढ़ जायेंगी।^{****}

मकान

आवास की समस्या भी भारत के लिए एक मुख्य समस्या है। केवल नगरों में ही 1951 तक 25 लाख मकानों की कमी थी। 1961 तक केवल नगरों की आबादी 2.07 करोड़ की वृद्धि का अनुमान है। उसके लिए 89 लाख मकानों की आवश्यकता होगी। जबकि प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में कुल 13 लाख मकान बने तथा दूसरी की अवधि में 19 लाख बनने का अनुमान है। इस प्रकार 1961 में 57 लाख मकानों का केवल नगरों में अभाव होगा। गांवों में यदि देखेंगे तो वहाँ भी कम से कम पुराने मकानों की दुरुस्ती तथा नयों की निर्मिति का आंकड़ा लगभग 5 करोड़ तक पहुंचेगा। यह काम बहुत बड़ा है। यदि इसको ही तरीके से हाथ में लिया जाये तो देश में बहुत बड़े पैमाने पर काम किया जा सकता है किन्तु इसके लिए हमें सीमेन्ट और फेरो कंक्रीट आदि के स्थान पर देश में प्राप्त साधनों के उपयोग पर ही अधिक बल देना होगा, सादा चूना और ईटें तथा लकड़ी का उपयोग करके हम अधिक मकान बना सकते हैं। सस्ते मकानों के कुछ डिजाइन प्रदर्शनी में तो दिखाये गये किन्तु उन्हें लोकप्रिय करने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाये गये। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें व्यक्तिगत प्रयत्नों को काफी अवसर प्राप्त हो सकता है। साथ ही यदि विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था अपनाई तो मकानों की समस्या काफी हल्की हो जायेगी क्योंकि फिर उद्योग-धन्धे गांवों में पहुँचेंगे। आज बड़े नगरों में मकान की जमीन का दाम उसके मूल्य का काफी बड़ा भाग होता है।

शासन का दायित्व

विकासोन्मुख भारतीय अर्थनीति की दिशा की ओर संकेत पिछले परिच्छेदों में किया गया है। यह निश्चित है कि काफी लम्बे अर्से से परागति की ओर जानेवाली अवस्था को प्रगति की दिशा में बदलने के लिए प्रयास करने होंगे। स्वतः वह हास से विकास की ओर नहीं मुड़ सकती। वास्तव में तो जब कोई व्यवस्था शिथिल हो जाती है तो उसके स्वतः सुधार (Self-correcting) का सामर्थ्य जाता रहता है। विकास की शक्तियों का प्रादुर्भाव होने एवं गति देने के लिए योजनापूर्वक प्रयास करने पड़ते हैं। स्वतन्त्र देश के शासन के ऊपर स्वाभाविक रूप से यह जिम्मेदारी आती है।

अपने इस दायित्व का निर्वाह करने के लिए योजना और नीतियों के निर्धारण की आवश्यकता होती है। किन्तु शासन कई बाद गलती कर जाता है। वह अर्थ-व्यवस्था को गति देने के स्थान पर स्वयं ही

**** "it is perhaps surprising that relatively little attention has been given in recent literature on economic development to the great opportunity for increasing capital formation in the under-developed countries by putting unemployed rural labour to work on various capital creating projects. without any necessary belt tightening."
Charles Welf & Sidney Surfrin : Capital Formation and Investment in Under & Developed Areas.

उसका अंग बनकर खड़ा हो जाता है इस प्रयास में उसे उन लक्ष्यों एवं उद्देश्यों का भी विस्मरण हो जाता है जिनको लेकर उसने अपने प्रयत्न प्रारम्भ किये थे।

अर्थ—व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन सम्पूर्ण जनता के प्रयत्नों से ही सम्भव है। कोई भी शासन, चाहे वह जनता के नाम पर 'पीपुल्स डेमोक्रेसी' के नामाभिधान से तानाशाही चलावे और चाहे वह सही माने में प्रतिनिधि शासन हो, जनता का स्थान नहीं ले सकता। वह जनता का मार्गदर्शन कर सकता है, सहायक बन सकता है, उसका नियन्त्रण कर सकता है, आदेश दे सकता है, उसे गुलाम बना सकता है। इनमें से उसके किस रूप में व्यवहार करना है इस पर ही उसकी योजनाओं की मर्यादाएँ और स्वरूप निर्भर करेंगे।

नियोजन का स्वरूप

'नियोजन' शब्द का सबसे पहिले रूस द्वारा व्यवहार होने के कारण उसे साम्यवादी अर्थव्यवस्था का आवश्यक अंग ही नहीं, नियोजित अर्थनीति का अपरिहार्य परिणाम भी साम्यवाद माना जाता है। किन्तु आज नियोजन साम्यवादियों तक ही सिमित नहीं। अमेरिका और ब्रिटेन भी नियोजन में विश्वास करते हैं। पर रूस और इन देशों की नियोजन की कल्पनाएँ भिन्न-भिन्न हैं। चूंकि साम्यवादी देश एक अत्यन्त ही नियन्त्रित एवं कठोर जीवन—व्यवस्था में विश्वास करते हैं इसलिए अर्थनीतिक कारणों की नहीं अपितु उनके वाद—विशेष की मांग है कि वे एक अत्यन्त ही सूत्रबद्ध योजना बनावें तथा सम्पूर्ण आर्थिक गतिविधियों, उत्पादन, वितरण और उपभोग का पूरी तरह नियंत्रण करें। इसके विपरीत प्रजातन्त्रवादी अपने विशेष दृष्टिकोण के कारण ही बहुत अधिक नियन्त्रित योजना को, यदि वह आर्थिक कारणों से सम्भव भी हो, नहीं अपनायेंगे। इसी आधार पर 1948 में ब्रिटेन की चतुर्वर्षीय योजना में लिखा था : "यूनाईटेड किंगडम का आर्थिक नियोजन इन मूलभूत तथ्यों पर आधारित है: आर्थिक तथ्य कि यू० के० की अर्थ—व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अत्यधिक निर्भर है; राजनीतिक तथ्य : कि वह (यू०के०) एक प्रजातन्त्र है और रहेगा; तथा प्रशासनिक तथ्य : कि कोई भी नियोजक भावी आर्थिक विकास की सामान्य प्रवृत्तियों से अधिक ज्ञान नहीं रख सकता।"

नियोजन और प्रजातन्त्र

आर्थिक नियोजन में यह अन्तिम तथ्य अत्यधिक महत्व का है। जब कोई भी मनुष्य किसी जीवमान एवं विकासशील अर्थ—व्यवस्था के भावी व्यवहार के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करता है तो वह केवल अपने पिछले अनुभवों एवं कल्पनाओं के आधार पर ही कुछ अनुमान लगाता है। यह निश्चित नहीं कि वे पूरी तरह सत्य उतरें। अतः उसे उनमें सदैव परिवर्तन के लिए तैयार रहना चाहिए। किन्तु तानाशाही शासन परिवर्तन स्वीकार करने के स्थान पर अर्थ की गतियों को अपनी भविष्यवाणी के अनुसार बदलने का आग्रह करता है उसमें से संकट पैदा होते हैं। इसी प्रकार जब कोई नियोजक योजना के विभिन्न सम्बद्ध अंगों में सम्भाव्य परिवर्तनों के लिए गुंजाइश छोड़कर नहीं चलता तो विभिन्न प्रकार के संकट खड़े हो जाते हैं। उन्हें टालने के लिए शासन अधिकाधिक शक्ति अपने हाथ में लेता जाता है। रूस आदि साम्यवादी देशों में यदि पहिला प्रकार दिखता है तो भारत में दूसरा। एक में तानाशाही अर्थनीति का नियन्त्रण करती है तो दूसरे में अर्थनीति की कठिनाइयाँ तानाशाही को जन्म दे रही हैं। हमें दोनों से बचना होगा।

मानव—ज्ञान की इन सीमाओं के अतिरिक्त भी नियोजन की मर्यादाएँ जीवन के अन्य मूल्यों के आधार पर निश्चित करनी पड़ती हैं। जहाँ शासन ही सम्पूर्ण अर्थोत्पादन का स्वामी है वहाँ योजना बनाना और कार्यान्वित करना सरल है। जहाँ व्यक्तियों को आर्थिक क्षेत्र में खुली छूट है वहाँ भी अधिक कठिनाई नहीं

किन्तु जहाँ तक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था है वहाँ नियोजन एक दुष्कर कार्य है। उदारहण के लिए जहाँ केवल सैन्यसंचालन का कार्य करना है वह सरलता से किया जा सकता है। जहाँ सामान्य रूप से सड़क पर यातायात की व्यवस्था करनी हो वह भी ट्रेफिक पुलिस के नियन्त्रण एवं संचार-नियमों के पालन से की जा सकती है; किन्तु जब प्रधानमन्त्री के आगमन पर एकाएक रास्ता रोक दिया जाता है तो भारी कठिनाई और क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। यदि प्रधानमन्त्री की गाड़ी भी अन्य यातायात के साधनों के साथ ही ट्रेफिक के नियमों का पालन करती हुई जाय तो इस क्षोभ को टाला जा सकता है किन्तु साधारण प्रवृत्ति शासन की योजनाओं को प्राथमिकता देने की होती है।

नीति और नियोजन

प्रजातन्त्रीय देशों में शासन मौद्रिक एवं वित्तीय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नियन्त्रण आदि से अर्थ व्यवस्था की गतिविधि को ठीक रखता है। उनका नियोजन नीति-निर्धारण, बजट आदि तक सीमित रहता है। वे एक-एक क्षेत्र और एक-एक इकाई की गतिविधि की चिन्ता नहीं करते। इसमें हम बृहत् आर्थिक नियोजन (**micro-economic planning**) कह सकते हैं। इसके विपरीत जहाँ छोटे-छोटे लक्ष्यों का निर्धारण तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म आर्थिक गतिविधि का नियोजन किया जाये उसे अणु-आर्थिक (**micro-economic**) नियोजन कहेंगे। रूस दूसरी पद्धति का पालन करता है तो अमेरिका और ब्रिटेन पहिली का। हमने दोनों का मेल बिठाने की कोशिश की है किन्तु पूर्ण समाजवाद न होने के कारण दूसरा असफल होता है सार्वजनिक क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार होने के कारण पहिला प्रभावी नहीं होने पाता। आवश्यकता है कि शासन अपने हाथ में बहुत ही थोड़े एवं अपरिहार्य उद्योग ले तथा शेष का नियन्त्रणों (**strategic controls**) के द्वारा नियमन करता चला जाये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

भारत में अभी तक दो योजनाएँ बनी हैं। पहिली तो केवल कुछ स्कीमों का संकलन मात्र था, किन्तु दूसरी में देश के आर्थिक ढाँचे में मूलभूत परिवर्तन करने की योजना बनाई गई। राष्ट्रीय आय में 25 प्रो शो की वृद्धि विषमताओं की कमी, मूल तथा भारी उद्योगों के विकास पर बल देते हुए देश का तेजी से औद्योगीकरण तथा रोजगारों का अधिक विस्तार, ये लक्ष्य इस योजना के सम्मुख रखे गये थे। इन्हें प्राप्त करने के लिए 4800 करोड़ रु० के व्यय का अनुमान किया गया था। समाजवाद के उद्देश्य के अनुरूप शासन के द्वारा 3800 करोड़ रु० तथा निजी-क्षेत्र में 2400 करोड़ रु० के पूंजी-विनियोजन की व्यवस्था थी—साधन-स्रोतों की पुष्टि से यह अनुमान लगाया गया था कि 800 करोड़ रु० विदेशों से, 400 करोड़ रु० बजट के अन्य सूत्रों से तथा 1200 करोड़ रु० घाटे की अर्थ-व्यवस्था से प्राप्त किया जाएगा। शेष 400 करोड़ रु० की कमी कैसे पूरी की जायेगी इसका कोई विधान नहीं किया गया था।

जब यह योजना बनाई गई थी तो इसे अत्यन्त महत्वाकांक्षिणी तथा उपलब्ध साधनों से बाहर की बताया गया था। साथ ही कृषि की उपेक्षा करके औद्योगीकरण पर और उसमें भी भारी उद्योगों पर बल गलत था। देश की बेकारी के उन्मूलन की इसमें कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। शासन ने अपनी क्षमता से अधिक भार अपने ऊपर ले लिया था। करों का भार दुर्वह होगा! आदि। पिछले ढाई वर्ष के अनुभव ने इन आलोचनाओं को सत्य सिद्ध किया है।

योजना आयोग ने मई 1958 में जो योजना के क्रियान्वयन का सिंहावलोकन किया है उसके अनुसार उपर्युक्त आँकड़ों और अनुमानों में बदल हुआ है। अब राजस्व की आय में से बचत 759 करोड़ रु०, रेलों से 250 करोड़ रु०, ऋण से 984 करोड़ रु०, अन्य स्रोतों से 29 करोड़ रु०, विदेशों से 1038 करोड़ रु० तथा घाटे की अर्थ-व्यवस्था से 1200 करोड़ रु० का अनुमान लगाया गया है। इस प्रकार कुल आय का अनुमान 4260 करोड़ रु० का होता है अतः योजना को घटाकर 4500 करोड़ रु० की करने का सुझाव रखा गया। नवम्बर 1958 के आयोग के एक नोट के अनुसार 4500 करोड़ रु० भी जुटाना सम्भव नहीं होगा। अतः घटाकर 4200 करोड़ किया जाये, ऐसा सुझाव रखा गया। आवण्टनों में भी अनेक परिवर्तन किये गये। राष्ट्रीय विकास परिषद ने उसके सुझावों को अमान्य किया है।

योजना के लक्ष्यों (targets) और अनुमानों (estimates) की गलतियाँ मानव-सुलभ हैं, यद्यपि यदि थोड़ा-अधिक ध्यान दिया जाता तो उन्हें काफी सुधारा जा सकता था। किन्तु हमारे देश में आँकड़ों के एकत्रीकरण और विवेचन की न तो कोई अच्छी, विश्वसनीय एवं अविलम्बकारी व्यवस्था है और न शासन की लालफीताशाही में वह सम्भव ही है। महत्व का प्रश्न तो यह है कि यदि वे अन्दाजे ठीक भी निकल जाते तो भी योजना से भारत की समस्याएँ सुलझना तो दूर रहा, उसका सामर्थ्य प्राप्त करने की दिशा में भी हम आगे नहीं बढ़ पाते।

योजना की मौलिक गलती

योजना की सबसे बड़ी गलती है उसके द्वारा भारत की परिस्थितियों पर विचार न किया जाना। उसने न तो भारत के साधनों का विचार किया और उनकी आवश्यकताओं का, वह रूस और योरोप के औद्योगीकरण के अनुकरण का एक क्षीण प्रयास मात्र है। उसमें भी इन देशों के सम्मुख औद्योगीकरण के काल में और उसके परिणामस्वरूप जो समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं उनका भी विचार नहीं किया गया। विभिन्न परियोजनाओं और क्षेत्रों के बीच न तो सन्तुलन बिटाया गया और न समन्वय ही। किसी भी योजना की पूर्ति के लिए धन ही नहीं, भौतिक और मानवी साधनों की भी आवश्यकता है। हमारा सम्पूर्ण ध्यान धन की प्राप्ति के स्रोत ढूँढना और उसके व्यय की मात्रा के अनुसार सफलता को आंकने की ओर लग गया है। कम से कम व्यय से अधिकतम लाभ का विचार ही भूल गये। जहाँ हमें मानवीय विकास का लक्ष्य करना चाहिए था, वहाँ हमने भौतिक लक्ष्य रखे और उनका आधार भी वित्तीय लक्ष्य मान लिया।

तीसरी योजना

आज तीसरी योजना की चर्चा शुरू हो गई है। योजना का आधार भारत की कृषि और उसके विभिन्न अंग के रूप में खड़े हुए विकेन्द्रित उद्योग हों, इस ओर हम पिछले पृष्ठों में पर्याप्त ध्यान खींच चुके हैं। विकेन्द्रित कृषि-औद्योगिक ग्राम-समाज ही हमारे राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी हो सकती है। उसका विकास करने के लिए संस्था सम्बन्धी व्यवस्थाएँ निर्माण करना, यही शासन की योजनाओं का काम हो सकता है।

देश की अर्थ-व्यवस्था के क्रान्तिकारी विकास का कार्यक्रम बनाते हुए भी हमें यह ध्यान में रखना होगा कि तीसरी योजना दूसरी से असम्बद्ध न हो। घड़ी के पैण्डुलम के समान परिस्थितियों के थपेड़े से इधर से उधर झूलते रहने से हम समय, शक्ति और साधनों का अपव्यय ही करेंगे। भारी खर्चा करके दूसरी योजना की अवधि में प्राप्त साधनों का इस प्रकार उपयोग करना होगा। जिससे हम उन्हें व्यर्थ न जाने दें

तथा अपनी अर्थ-व्यवस्था में हमने जो असन्तुलन पैदा कर लिए हैं उन्हें ठीक करते हुए आगे के विकास की व्यवस्था कर सकें।



14. उपसंहार

प्रस्तुत पुस्तक 1958 में प्रकाशित हुई और श्रद्धेय पण्डित दीनदयाल जी ने “विकास की एक दिशा” की ओर संकेत किया जो शुद्ध भारतीय अर्थनीति के आधार पर अपनाई जा सकती थी और यदि उनके संकेतों का ध्यान रखा गया होता तो आज की सी दयनीय परिस्थिति का निर्माण न होता। पंडित जी ने धर्मशास्त्रों के आधार पर जिस “एकात्म मानववाद” की ओर संकेत किया था वह विश्व शान्ति के लिए आवश्यक व्यवस्था है क्योंकि सम्पूर्ण संसार इस समय “पूंजीवाद” और “समाजवाद” दोनों की भयानकता से त्रस्त है।

प्रारम्भिक “दो शब्द” में माननीय दीनदयाल जी ने “भारतीय अर्थनीति” द्वारा “प्राचीन भारत की अर्थ सम्बन्धी कल्पनाओं अथवा आधुनिक भारत की अर्थ व्यवस्था और नीतियों” का बोध होना बतलाया है। प्राचीन की खोज में इतिहासज्ञ लगे तो आधुनिक के निर्माण का आधार राजनीतिज्ञों का विवेचन बना। अर्थशास्त्रियों का महत्व अर्थनीति के निर्धारण में नगण्य रहा और राजनीतिज्ञों ने अपनी भूमिका के आधार पर शोषित जनता की भावनाओं का राजनीतिक लाभ उठाते हुए “समाजवाद” के नारे बुलन्द किए। भावी की योजनाएँ बनी परन्तु भूत के आधार पर वर्तमान का विचार करके भावी की दिशा निश्चित करने का प्रयास नहीं हुआ। इतिहासज्ञ अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ अलग-अलग विचार करते रहे, कर रहे हैं परन्तु “निर्माता की लगन” एवं पुरुषार्थ” का उनमें अभाव है।

पाश्चात्य प्रणालियों और व्यवस्थाओं का अन्धानुकरण भारत की भूमि में विनाशकारी सिद्ध हुआ है। आज हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व का “पुरुषार्थमय” वातावरण नष्ट हो गया है और “असुरक्षा” की मनोदशा में “सरल धन” की प्राप्ति ही एक मात्र लक्ष्य बन गया है। भले लोग निराश हुए हैं और “अर्थ” की मानसिक दासता के कारण उनका नैतिक बल एवं साहस भी समाप्त हो रहा है। काला धन बढ़ने के साथ ही अनुत्पादक व्यय बढ़ता जा रहा है जिसने भयंकर मुद्रास्फीति और मंहगाई उत्पन्न कर दी है। भले लोग अपने कष्टों और भ्रष्टजनों के जीवन स्तरों की तुलना करने लग गए हैं। और कहा नहीं जा सकता कि कब तक संघर्ष कर सकेंगे। एक ओर जहाँ शासकीय दुर्नीतियों से आवश्यक वस्तुओं का अभाव उत्पन्न हो रहा है वहीं दूसरी ओर विलासिता के सामानों की वृद्धि भी हो रही है। नहरें बनी पर पानी नहीं, बिजली के तार गांवों तक गये पर विद्युत आपूर्ति नहीं, नये-नये उद्योग खुले पर अपनी क्षमता को पूर्ण रूप से प्रयोग कर पाने में असमर्थ हैं क्योंकि कच्चे माल और विद्युत आपूर्ति अथवा कोयले का अभाव है। पुराने उद्योगों को सरकार ने “बीमार इकाइयों” घोषित करके अधिग्रहण कर लिया, जो अपने स्वयं के दोष नहीं तो अर्थव्यवस्था के रक्तदोष के कारण पीड़ित थे। परन्तु जबकि इनको चलाने को आवश्यक मात्रा में कच्चा माल नहीं मिल पा रहा है नये क्षेत्रों में इसी प्रकार के उद्योगों को लगाने की योजना हो रही है क्योंकि वे क्षेत्र पिछड़े हुए हैं।

अभाव चाहे वह प्राकृतिक हो या कृत्रिम राजनीतिज्ञ, प्रशासन और व्यापारी के लिए लाभप्रद सिद्ध हो रहा है। प्रशासक और व्यापारी इतने अधिक दोषी नहीं जितने राजनीतिज्ञ; क्योंकि अर्थनीति को राजनीति ने दाब दिया है। प्रत्येक आर्थिक नीति राजनीतिक लाभ को दृष्टि में रख कर बनाई जाती है और दीर्घकालीन नियोजन का उद्देश्य आर्थिक विकास या कल्याण की वृद्धि न होकर मात्र अर्थ व्यवस्था का ऐसा परिवर्तन बन गया है जो राजनीतिज्ञों को सुविधाजनक होगा। “जनता के कल्याण” की भावना के मूल में “कुर्सी का लालच” जा छिपा है। “गरीबी” और “निरक्षरता” उद्देश्य पूर्ति में सहायता दे रहे हैं। इस कारण ऐसा नियोजन किस काम का जो गरीबी या निरक्षरता को दूर कर दे! परन्तु जनतन्त्र में

काम जनता से ही लेना है इस कारण कष्टों के कारण बढ़ते हुए जनरोष को समाज के ही विशिष्ट अंगों की ओर, समाज की कमियों की ओर अथवा प्रकृति की चंचलता की ओर विकर्षित करने का प्रयास किया जाता है। जनता के पुनरुत्पादन क्रम को दोष देकर “परिवार नियोजन” बड़े उद्योगपतियों की धनलिप्सा को दोष देकर “कालाधन अधिग्रहण” और प्रकृति को दोष देकर “धन वितरण” कि योजनाएँ इसी विकर्षण के प्रयास के प्रतिफल हैं। सामान्यतः इतिहासज्ञ और अर्थशास्त्री भी राजनीतिज्ञों के मोहरे बन रहे हैं।

परस्पर दोषारोपण स्वभाव बन गया है। श्री संजीवैय्या ने 1963 में कहा “जो कांग्रेसी 1947 में कंगाल थे, आज वे लखपति, करोड़पति हैं उनके महलनुमा मकान हैं, फैक्टरियाँ हैं जबकि आय का कोई प्रत्यक्ष साधन सामने नहीं दिखलाई पड़ता है”^{§§§§§} तो श्री अनुमन्थैया ने कहा “कुछ लाख रुपये में मैं मुख्यमंत्री और करोड़ रुपये में प्रधानमंत्री बन सकता हूँ।”^{*****} अभी हाल में ही बिहार के खाद्य मन्त्री श्री बोदरे ने कह डाला कि “मैं कीमतें कैसे नियंत्रित कर सकता हूँ जबकि सप्लाई इन्स्पेक्टर से लकर कमिश्नर तक लूट में अपना हिस्सा चाहते हैं। विधायक, संसद सदस्य और मंत्री सभी चोर हैं।”⁺⁺⁺⁺⁺ ये परस्पर के प्रत्यारोप क्या अर्थ लोलुपता की ओर संकेत नहीं करते? इस प्रकार के आरोपों का इतना अधिक प्रचार हुआ है, हो रहा है कि सम्पूर्ण वातावरण दूषित हो रहा है। यह भी जनता का ध्यान विकर्षित करने का ही एक रूप है।

जनता के ध्यान को विकर्षित करने का एक उदाहरण और लेना समीचीन होगा। 12 जुलाई 1973 को प्रधानमंत्री ने कहा⁺⁺⁺⁺⁺ “देश इस समय अत्यन्त कठिन आर्थिक स्थिति से गुजर रहा है। यह स्थिति अगले दो महीनों में और बिगड़ सकती है। उन्होंने मूल्यवृद्धि, मुद्रास्फीति और खाद्यान्न की कमी का उल्लेख करते हुए कहा कि इसका मुख्य कारण बंगला देश से शरणार्थियों का आगमन, सूखा आदि हैं। विश्व के कई देशों की ऐसी स्थिति है।” हरित क्रान्ति की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि इसमें गेहूँ का उत्पादन काफी परन्तु चावल का थोड़ा बढ़ा है, परन्तु आज देश में चावल और दालों की कमी है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि यद्यपि गेहूँ के थोक व्यापार की योजना शत-प्रतिशत सफल नहीं रही परन्तु वितरण व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए यह पग उठाना जरूरी था। सस्ते खाद्यान्न की वितरण व्यवस्था इतने बड़े पैमाने पर शुरू करना आसान काम नहीं। यही एक उद्घरण सिद्ध करेगा कि सत्तारूढ़ दल की दृष्टि में मूल्यवृद्धि, मुद्रास्फीति और खाद्यान्न की कमी के प्रति उनकी योजना और नीतियाँ दोषी नहीं हैं और यह स्थिति तो बंगलादेश और सूखा जैसे आकस्मिक कारणों से उत्पन्न हुई है। इसी भाषण में प्रधानमंत्री ने कहा कि देश की जनता समझती है कि कांग्रेस ही एक ऐसा दल है जो कि देश की एकता बनाये रख कर उसे विकास के पथ पर ले जा सकता है। परन्तु कांग्रेसियों के आपसी झगड़े और गुटबन्दी से उन्हें भारी निराशा होती है। जनता के ध्यान विकर्षण और उनकी अन्तर्निहित इच्छा का यह एक अच्छा उदाहरण है।

आज की परिस्थिति में पंडित दीनदयाल जी के द्वारा प्रस्तुत पुस्तक में प्रणीत विचारों की सार्थकता की जाँच करने के लिए 22 वर्षों के भीतर देश के आर्थिक विकास के लिए अपनाये गए नियोजन का प्रभाव देखना ही होगा। व्यय की दृष्टि से प्रथम योजना में 33,600 द्वितीय में 68,310, तृतीय में 104,000 और चतुर्थ में 226,350 मिलियन रुपयों का प्राविधान किया गया। समाजवाद की

§§§§§ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, भ्रष्टाचार विशेषांक, 29 जुलाई 1973

***** साप्ताहिक हिन्दुस्तान, भ्रष्टाचार विशेषांक, 29 जुलाई 1973

+++++ तरुण भारत, लखनऊ 19 जून, 1973

***** संसद के पावस अधिवेशन से पूर्व कांग्रेस पार्टी की बैठक में भाषण।

स्थापना का मापदण्ड भी अर्थ के प्राविधान और व्यय को मानते जुए सार्वजनिक क्षेत्र में प्रथम योजना में 19,600, द्वितीय योजना में 46,720, तृतीय योजना में 85,665, सन् 1966-67 से 1968-69 की वार्षिक योजनाओं में 66,254 और चतुर्थ में 159,020 मिलियन रुपयों का प्राविधान किया गया। इस पुस्तक के प्रकाशित होने के समय तक दो योजनाएँ बन चुकी थीं। पहली तो केवल कुछ स्कीमों का संकलन मात्र थी किन्तु दूसरी में देश के आर्थिक ढाँचे में मूलभूत परिवर्तन करने की योजना बनाई गई। राष्ट्रीय आय में 25 प्रतिशत की वृद्धि, विषमताओं की कमी, मूल तथा भारी उद्योगों के विकास पर बल देते हुए देश का तेजी से औद्योगीकरण तथा रोजगारों का अधिक विस्तार, ये लक्ष्य इस योजना के समक्ष रखे गए थे। कृषि की उपेक्षा करके औद्योगीकरण पर और उसमें भी भारी उद्योगों पर बल देना गलत सिद्ध हुआ। बेकारी उन्मूलन का इस योजना में विचार नहीं किया गया और करों का भार भी बढ़ता गया। पंडित दीनदयाल जी ने ऐसी योजना से भारत की समस्याओं का सुलझना असम्भव बतलाया, सबसे बड़ी योजना की गलती "भारत की परिस्थितियों पर विचार न किया जाना" बतलाई और इस योजना को "रूस और योरप के अनुकरण का एक क्षीण प्रयास मात्र" कहा। तीसरी योजना की चर्चा प्रारम्भ हो चुकी थी इस कारण उन्होंने पुनः अपना दृष्टिकोण सामने रखा कि "विकेन्द्रित कृषि- औद्योगिक ग्राम समाज ही हमारे राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी हो सकता है" और यह भी जोर दिया कि "हमें ध्यान रखना होगा कि तीसरी योजना दूसरी से असम्बद्ध न हो। घड़ी के पैण्डुलम के समान परिस्थितियों के थपेड़े से इधर-उधर झूलते रहने से हम समय, शक्ति और साधनों का अपव्यय ही करेंगे।" उनकी बातें कितनी सत्य सिद्ध हुई हैं यह सम्पूर्ण नियोजन काल का वर्तमान प्रतिफल सिद्ध कर रहा है।

तृतीय योजना में प्रतिवर्ष 50 प्रतिशत राष्ट्रीय आय की वृद्धि, खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता, मूल उद्योगों का प्रसार जिससे 10 वर्षों में औद्योगीकरण में भारत आत्मनिर्भर हो जाए, मानवशक्ति का पूर्ण उपयोग तथा रोजगार के अवसरों में समुचित वृद्धि, और अधिक समानता के अवसरों की स्थापना, आय तथा धन के वितरण में विषमता को कम करना तथा आर्थिक शक्ति का सम्यक् वितरण उद्देश्य रखे गए। तृतीय योजनाकाल में राष्ट्रीय आय की वृद्धि विभिन्न वर्षों में 2 प्रतिशत से लेकर 7.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही परन्तु अन्तिम वर्ष में राष्ट्रीय आय 5.6 प्रतिशत गिर गई। कुल मिलाकर तीनों योजनाओं की अवधि में स्थिर मूल्यों पर वार्षिक चक्रवृद्धि राष्ट्रीय आय बढ़ोत्तरी 3.4 प्रतिशत रही। 1966 से 1969 तक पंचवर्षीय योजनाएँ स्थगित रहीं और वार्षिक योजनाएँ चलीं और इस काल को "योजना अवकाश" भी कहा गया। 1969-74 के लिए चतुर्थ योजना तैयार की गई क्योंकि योजना कैसे त्यागी जा सकती है जबकि विकास करना ही है। चतुर्थ योजना के काल में प्रतिवर्ष राष्ट्रीय आय-वृद्धि का लक्ष्य 5.5 प्रतिशत रखा गया और उद्देश्य बतलाये गए- स्थिरता और घटी अनिश्चितता की स्थिति में विकास की गति को तीव्र करना, आन्तरिक साधनों पर अधिक निर्भरता और विदेशी सहायता पर निर्भरता में कमी, क्षेत्रीय और स्थानिक नियोजन द्वारा ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में अधिक रोजगार के अवसर उत्पन्न करना, परिवार नियोजन को सर्वोच्च वरीयता देना, कृषि उत्पादन को सर्वोच्च वरीयता देने के साथ ही खाद्यान्नों की आपूर्ति बनाये रखने के लिए पर्याप्त स्टॉक बनाना और दूसरे ढंग अपनाना जिसमें मूल्य स्तर को सामान्यतः स्थिर रखा जा सके। चौथी योजना में राष्ट्रीय आय में 5.5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था जबकि योजना के पहिले चार वर्षों में यह वृद्धि मुश्किल से 2.7 प्रतिशत रही। प्रतिव्यक्ति आय में 0.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि यह लक्ष्य 3 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का था। श्रीमती गांधी के प्रधान मंत्री बनने से पूर्व भी जनसंख्या वृद्धि के बावजूद भी 2.5 प्रतिशत औसत विकास की दर थी जो उनके काल में पिछले आठ वर्षों में शून्य हो गई।

जबकि पिछली दो योजनाएँ पूर्णतया फेल हो चुकी हैं, पांचवी योजना की नीतियों पर गहरी शंकायें की जा रही हैं जिसके प्रारम्भ होने में केवल आठ मास शेष बचते हैं। 6 फरवरी 1973 को योजना

संसदीय परामर्शदात्री समिति की बैठक में तीव्र आलोचना हुई और श्रीकृष्णाकान्त (कांग्रेस सदस्य) ने पांचवीं योजना में रोजगार सम्बन्धी नीति का नितान्त आभाव और मूल्य एवं आय नीति को अप्रभावी सिद्ध किया। इसी बैठक में योजना मंत्री ने स्वीकार किया कि सबसे ज्यादा मूल्य वृद्धि केवल आवश्यक वस्तुओं में हुई है। एक के बाद दूसरी योजना में हम 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष प्रगति दर का लक्ष्य घोषित करते रहे परन्तु केवल 3.5 प्रतिशत की प्राप्ति कर सके। चार योजनाओं की पूर्ति के बाद भी आज “आर्थिक उड़ान” की स्थिति नहीं आ सकी है। चौथी योजना के पहिले चार वर्षों में तो यह प्रगति दर केवल 2.7 प्रतिवर्ष रही है। मूल्य इतनी तेजी से बढ़ रहे हैं कि 3 खरब 48 अरब 20 करोड़ रुपये की खर्चीली पाँचवीं योजना के वित्तीय आकार को छोटा करना ही पड़ेगा ऐसा स्पष्ट होने लगा है। यद्यपि योजना मंत्री यह संकेत दे रहे हैं कि योजना का वित्तीय दृष्टि से आकार बढ़ सकता है लेकिन लक्ष्यों के मामले में शायद उसे कम करना पड़े। योजना के अवकाश की घोषणा की मांग की जा रही है— अवकाश की एक प्रकार से शुरुआत हो गई है। परन्तु योजना मंत्री कर रहे हैं कि मूल्य वृद्धि और कठिन संशोधन स्थिति होने के कारण ऐसा नहीं होगा और यह स्वीकार कर रहे हैं कि पिछले एक वर्ष में मूल्य उच्चतम स्तर पर पहुँच गए हैं। जून 1942 से जून 1973 के बीच थोक मूल्यों (खाद्यान्नों) में 22.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। योजना मंत्री कहते जा रहे हैं कि योजना के आवश्यक क्षेत्रों में कोई कटौती नहीं की जाएगी परन्तु फिर भी बिजली उत्पादन के लक्ष्य को कम किया जा रहा है।

अतः हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता के उपरान्त के अपने आर्थिक इतिहास के खतरनाक दौर में हम पहुँच गये हैं जबकि सारी व्यवस्था ही टूटती हुई दिखलाई पड़ रही है। 22 वर्षों के क्रमबद्ध नियोजित विकास के बाद भी कम से कम 2 करोड़ लोग बेरोजगार हैं, जनसंख्या में 2.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि 70 लाख नये प्रत्याशी उत्पन्न कर रही है, परन्तु रोजगार के अवसर नहीं बढ़ रहे हैं और हमें तो प्रत्येक योजना के बाद बेरोजगारों की संख्या बढ़ी हुई ही मिली है, जिसका यह स्वाभाविक निष्कर्ष है कि योजना की प्रक्रिया अधिक रोजगार उपलब्ध कराने में बिल्कुल विफल रही है। प्रगति दर 2.7 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही जबकि 5.5 प्रतिशत का लक्ष्य रहा है यह सर्वविदित है कि यदि 3 प्रतिशत प्रगतिदर हो तो प्रतिवर्ष 3 लाख नौकरियाँ उपलब्ध हो सकेंगी। क्या हम इस गति से बेरोजगारी की समस्या योजना के द्वारा कभी हल कर सकेंगे?

योजना के वित्तीकरण के लिए खूब कर्ज—देशी और विदेशी—लिये गये और दीनार्थ प्रबन्ध की आलोचना करते हुए भी घाटे की अर्थव्यवस्था को बढ़ाया गया। 1972-73 के वर्ष के लिए तो यह राशि 1921 करोड़ पहुँच गई है। इस प्रकार केवल एक वर्ष में सरकार ने घाटे की इतनी अर्थ व्यवस्था की है जितनी कि तीसरी तथा चौथी दोनों योजनाओं के लिए कुल संख्या निर्धारित थी। चौथी योजना के लिए घाटे की अर्थ व्यवस्था का कुल 850 करोड़ रुपये का प्रावधान था। यह स्पष्ट हो चुका है कि 12 महीनों में 20 प्रतिशत मूल्य वृद्धि सरकार के द्वारा खर्च पर अंकुश न लगाने के कारण ही हुई है। पिछले वर्ष मुद्रा आपूर्ति 11.5 प्रतिशत से अधिक बढ़ी जबकि प्रगति दर केवल 1.5 प्रतिशत बढ़ सकी और मूल्य 1973-74 में 150 प्रतिशत की दर से बढ़ते रहेंगे। योजना आयोग सदा कहता रहा है कि यदि 5.5 प्रतिशत प्रगतिदर के लक्ष्य को प्राप्त करना है तो मुद्रा आपूर्ति किसी भी दशा में 7 प्रतिशत से अधिक नहीं बढ़ना चाहिए। आधारभूत अधिक सत्य यह है कि पिछले 20 वर्षों में मुद्रापूर्ति 400 प्रतिशत बढ़ गई जबकि वस्तुएँ और सेवाएँ केवल 200 प्रतिशत ही बढ़ सकीं। सरकार ने 14 प्रमुख व्यापारी बैंकों के सरकारीकरण के उपरान्त उनका भी प्रयोग दीनार्थ प्रबन्ध में कर डाला। वित्त मन्त्रालय ने एक साथ सभी मुख्यमन्त्रियों को लिखा है कि वे अपनी परियोजनाओं और कार्यक्रमों का बचत करने की दृष्टि से पुनरावलोकन करें और बैंकों को आदेश दिया गया है कि चूँकि राज्य सरकारें योजना के धन का गैर-योजना कार्यों पर खर्च कर देती हैं उन्हें अधिक कर्जा न दिया जाए। परन्तु राज्य सरकारों ने अन्य

सरकारी वित्त निगमों की सहायत से दीर्घकालीन ऋण उगाहना आरम्भ कर दिया। नई दिल्ली द्वारा असीमित दीनार्थ प्रबन्ध में यदि उपरोक्त अनुत्पादक व्यय जोड़ दिया जाए तो मूल्यवृद्धि का कारण समझ में आ जाएगा। सरकारी पदाधिकारियों के प्रयोग के लिए कारें खरीदने के लिए 2 अरब 80 करोड़ रुपयों का प्रावधान इस देश की पाँचवीं योजना में किया गया है जिसे सरकार रद्द कर सकती है परन्तु छोटी कारें बन रहीं हैं – कैसे बिकेंगी?

दूसरी पंचवर्षीय योजना में प्रथम से 135 प्रतिशत अधिक धन का विनियोग हुआ था, तीसरी में दूसरी से 86 प्रतिशत अधिक और चौथी में भी तीसरी से 47 प्रतिशत अधिक धन का विनियोग हुआ। अब पाँचवीं योजना में चौथी से 112 प्रतिशत अधिक धन का विनियोग करना निश्चित हो रहा था जबकि आर्थिक परिस्थिति गम्भीर हो गई। योजना का क्या होगा कहना कठिन है परन्तु प्रधानमंत्री की चेतावनी कि अगले दो महीनों में स्थिति और भी खराब हो सकती है गलत नहीं है। साधारण व्यक्ति की समझ में यह नहीं आ सकता कि योजना पर दिनोंदिन व्यय बढ़ता रहा पर लक्ष्यों का प्राप्ति दूर होती गई। गरीब-अमीर का अन्तर बढ़ा है। बेकारी बढ़ी है, उत्पादन घटा है, कर्ज बढ़ा है, मूल्य बढ़ा है, आय घटी है जबकि योजना में लगने वाला प्रयत्न और त्याग विकास के लिए ही तो किया गया, किया जा रहा है। काले बाजार में सब कुछ मिलता है परन्तु जनता के बाजार में वस्तुओं का अभाव है। काले धन को रोकने का प्रयत्न किया जा रहा है परन्तु काला धन इतना बढ़ गया है कि उसे एक समानान्तर अर्थव्यवस्था उत्पन्न कर दी है। 15000 करोड़ से लेकर 24000 करोड़ तक का काला धन जिसमें प्रतिवर्ष अपवंचित आय जुड़ती जा रही है क्या अर्थ-व्यवस्था की दयनीय स्थिति का कारण नहीं है?

योजना और विकास की दिशा पर पंडित दीनदयाल जी के विचारों की समीक्षा करने से पूर्व उस सार्वजनिक क्षेत्र पर भी दृष्टि डाल लेना उपयोगी होगा जिसका निर्माण एवं प्रसार योजनाकाल में समाजवाद की स्थापना के निमित्त किया गया। सरकारी उद्योगों के ब्यूरो ने सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट में दावा किया है कि हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के आधीन कारखानों ने जिनमें सरकारी क्षेत्र में लगी कुल पूँजी का लगभग एक चौथाई भाग विनियोजित है 1969-70 के दौरान 10.47 करोड़ रुपये की हानि उठाई है जबकि इससे पूर्व 1968-69 में उन्होंने 39.91 करोड़ रुपये की हानि उठाई थी। यह जानकार आश्चर्य बढ़ जाएगा कि 15 वर्षों के अनुभव के बाद भी ये कारखाने हानि में ही चल रहे हैं। दुर्गापुर अपनी क्षमता का केवल 39 प्रतिशत राउर केला 57 प्रतिशत और भिलाई 77 प्रतिशत उपयोग कर सकता है। परन्तु आज देश का समूचा इस्पात उद्योग सरकार के हाथ में है और इस्पात के अभाव में औद्योगिक विकास की दर 4.6 प्रतिशत पर रुक गई है। 260 करोड़ का करांची का हैवी इन्जीनियरिंग कार्पोरेशन व्यावहारिक रूप में 1974 से ठप हो जाएगा। वह प्रतिवर्ष 50 करोड़ रुपयों की हानि अर्जित करेगा क्योंकि उसके पास आर्डर नहीं हैं। पिछले 10 वर्षों से यह कारखाना हानि उठाता रहा है और अब तक 100 करोड़ रुपयों की हानि उठा चुका है। यह आश्चर्य है कि जहाँ इस कारखाने के तीनों विभाग अभी कुल क्षमता की स्थापना भी नहीं कर सके हैं कुल स्थापित क्षमता केवल 20 प्रतिशत ही प्रयोग में लाते हैं। यह कल्पना करना भी कठिन है कि कब तक यह कारखाना हानि उठाना बन्द कर सकेगा। इस्पात के राष्ट्रीयकरण से कोयले के राष्ट्रीयकरण, बैंकों के राष्ट्रीयकरण, अनाज के थोक व्यापार के राष्ट्रीयकरण के चित्र अधिक अच्छे नहीं हैं। परन्तु फिर भी रामबाण औषधि राष्ट्रीयकरण मानी जा रही है क्योंकि समाजवाद लाने का वही मार्ग है।

पंडित दीनदयाल जी ने इसी पुस्तक में लिखा है कि “जब कोई नियोजक योजना के विभिन्न सम्बद्ध अंगों में सम्भाव्य परिवर्तनों के लिए गुंजाइश छोड़ कर नहीं चलता तो विभिन्न प्रकार के संकट खड़े हो जाते हैं। उन्हें टालने के लिए शासन अधिकाधिक शक्ति अपने हाथ में लेता जाता है। रूस आदि साम्यवादी देशों में यदि पहला प्रकार दिखता है तो भारत में दूसरा। एक में तानाशाही अर्थनीति

का नियन्त्रण करती है तो दूसरे में अर्थनीति की कठिनाईयाँ तानाशाही को जन्म दे रही हैं। हमें दोनों से बचना होगा” क्या हमारे देश में अर्थनीति की कठिनाई दूर करने के लिए बैंकों, कोयला और गेहूँ के थोक व्यापार का सरकारीकरण नहीं किया गया? पंडित जी ने सुझाया था कि “आवश्यकता है कि शासन अपने हाथ में बहुत ही थोड़े एवं अपरिहार्य उद्योग ले तथ शेष का नियन्त्रणों द्वारा नियमन करता चला जाये।” गल्ले के द्वारा राष्ट्रीयकरण के लिए श्रद्धेय दीनदयाल जी ने लिखा “शासन द्वारा व्यापार का राष्ट्रीयकरण केवल निधारित मूल्यों पर गल्ला खरीदने तक ही सीमित नहीं रहेगा अपितु उसके अगले स्वाभाविक पग जबरिया गल्ला वसूली तथा राशनिंग भी होंगे। हम कन्ट्रोल की बुराइयों का अनुभव कर चुके हैं। फिर से पुरानी गल्लियों को दुहराना ठीक नहीं होगा।” इस सयम भी विकराल परिस्थिति का एक प्रमुख कारण गल्ले के व्यापार का सरकारीकरण भी है। सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में दी गई उसकी चेतावनी उनके दृष्टिकोण की यथार्थता को सिद्ध करती है— “वे अपने दायित्व का ठीक प्रकार से निर्वाह नहीं कर पायेंगे। भ्रष्टाचार की व्यापकता सुपरिचित है। हमें उसे दूर करने के लिए भी कठोर कदम उठाने पड़ेंगे। यदि सार्वजनिक उद्योगों का ठीक प्रबन्ध नहीं हुआ तो वे भारत के भावी औद्योगिकरण की नींव रखने के स्थान पर जो कुछ निजी प्रेरणा से चल रहा है उसके मार्ग में रोड़े ही अटकावेंगे।”

उद्योगों के सम्बन्ध में श्रद्धेय दीनदयाल जी ने लिखा “सत्य तो यह है कि किफायतें बड़े पैमाने पर उत्पादन से नहीं, अधिक उत्पादन के कारण होती है। अगर हम इतिहास देखें तो ब्रिटेन में बड़े पैमाने पर कपड़ा तैयार होने पर भी भारत का कपड़ा वहाँ जाकर सस्ता पड़ता था। जापान की जो वस्तुएँ सस्ती आकर बाजार से बाकी सब माल को निकाल देती हैं, बड़े कारखानों में नहीं, घरों में बनती हैं। यदि अधिक उत्पादन नहीं हुआ तो बड़े पैमाने के उद्योगों की ऊपरी व्यवस्था का ही इतना खर्च आता है कि उत्पादन व्यय बढ़े बिना नहीं रह सकता।” पंडित दीनदयाल जी की दृष्टि में नियोजन की कल्पना क्या थी इसे उन्होंने “विकेन्द्रित कृषि-औद्योगिक ग्राम-समाज” नाम दिया और श्रम पूँजी के विनियोग के बारे में लिखा — “हमें यह भी विचार करना होगा कि पश्चिम में श्रम की कमी होने के कारण प्रतिव्यक्ति अधिकतम उत्पादन ही उनका एकमेव लक्ष्य है। किसी भी देश में दुर्लभ उत्पादन की अधिकतम उपयोगिता ही अर्थोत्पादन प्रणाली का आधार होता है। हमारे यहाँ पूँजी दुर्लभ है। अतः हमें पूँजी की प्रति इकाई की अधिकतम उत्पादकता प्राप्त करनी होगी।” भारत भक्ति से ओतप्रोत उनके विचारों पर यदि गौर किया गया होता तो आज ये विस्मयकारी प्रतिफल नहीं दिखाई देते।

कल्याणकारी राज्य की अनुभूति के लिए एक स्वस्थ वेतन नीति चाहिए। मंहगाई के अनुपात में वेतन बढ़ाया नहीं जा सकता परन्तु जनता को सन्तुष्ट रखने के लिए कुछ देना होगा और कुछ दे भी देंगे परन्तु वेतन आयोग के प्रतिवेदन के उपरान्त। वही नीति अपनाई गई और अपनाई जा रही है जो कि अंग्रेज अपनाता था। मूल्य प्रभाव के शतप्रतिशत निरसन को सिद्धान्त रूप में मान लेने के बाद भी, जिस राष्ट्र का राष्ट्रपति श्रमिक नेता हो, वहाँ उसे लागू नहीं किया जा सका। “गिरी एप्रोच” भी बदल गई। अभी तक राष्ट्रीय वेतन नीति नहीं बन सकी— आवश्यकता पर निर्धारित 15वीं इण्डियन लेबर कान्फ्रेंस के सूत्र से परिगणित 314 रु0 मासिक का वेतन बहुत दूर है क्योंकि तीसरे वेतन आयोग ने उसे 185 रु0 पर लगाकर पटक दिया है। योजना आयोग द्वारा प्रचारित “गरीबी रेखा” 200 रु0 प्रतिमास है। अनुमान लगा लें कि भारत में गरीबी का चित्र विश्व भर में अनोखा है। श्रमिक वेतन वृद्धि नहीं चाहता वह तो केवल सुखसुविधा की भी नहीं केवल आवश्यकता की वस्तुएँ भरपूर चाहता है फिर भी भारत सरकार का श्रम मन्त्री कहता है कि भारत सरकार वेतन वृद्धि को रोकने को उचित नहीं समझती और सरकार न तो वेतन वृद्धि को रोकना चाहती है और न हड़तालों पर रोक लगाना चाहती है। वेतनों की

अल्प वृद्धि क्या हड़तालों को रोक सकेगी जबकि वित्त मन्त्री के ही अनुसार रुपये की किमत 39 पैसे से भी कम है?

उपसंहार के इन कुछ पृष्ठों से यह प्रकाश में आ ही गया होगा कि स्थिति भयानक है, असुरक्षा के वातावरण में हम जी रहे हैं, भ्रष्टाचार का बोलबाला है, मुद्रास्फीत-मूल्य वृद्धि नीतियों से उत्पन्न हुई है, गरीबी कम नहीं हो रही है पर अमीर बढ़ रहे हैं; परिश्रम और पुरुषार्थ की परिभाषाएँ बदल गई हैं, कथनी और करनी में सामंजस्य लाने का प्रयत्न भी नहीं है। धन सरलता से मिल सकता है तो पसीना बहाकर परिश्रम करने से लोगों को अरुचि हो रही है। लाटरी बन्द हुई थी अब और अधिक बढ़ गई है। कर्ज कठिनाई से मिलता था अब आसानी से मिलता है। योजना विकास का यज्ञ न होकर लोगों को भ्रष्ट करने की साजिश लगने लगी है। इतने दिनों में भी भारतीय जनता के धैर्य को नष्ट न कर पाने वाले अपनी ही नीतियों की असफलताओं को पुरानी व्यवस्थाओं पर थोप कर उनको मिटा देने के लिए जनता में क्रान्ति की उत्तेजना उत्पन्न कर रहे हैं और कह देते हैं कि गरीबी न मिटी तो रक्त-क्रान्ति होगी। परन्तु क्या वे रक्तक्रान्ति का अर्थ समझते हैं और उसके परिणाम का आकलन कर लेने में समर्थ हैं? अर्थ का भूत किसने जगाया, हर क्रिया का अर्थ के द्वारा माप किसने चलाया? जिस देश की जनता ने अपने त्याग और बलिदान से अंग्रेजों को भगा दिया वही आजादी मिलने पर सुला दी गई और यह भूल गई कि आजादी ली क्यों थी? धर्म को राजनीति से हटा लेने पर लोग उस धर्म को भूल गए जो व्यक्ति-परिवार, समाज-राष्ट्र अथवा विश्व की रक्षा करता है। अर्थ और अनियन्त्रित काम का खूब प्रसार हुआ- आवश्यक वस्तुओं का अभाव और विलासिता की वस्तुओं का बढ़ता हुआ उत्पादन अन्य कुछ भी नहीं बतलाता है। सरकारी धन को अपने से मूल्यवान समझने वाले व्यक्ति कम हो गये हैं इसी कारण योजना फेल हुई है। आज कहा जाता है - "प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य है किसी का कम किसी का ज्यादा"। क्या यह सत्य है? आज भी ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें खरीदा नहीं जा सकता परन्तु हैं वे अपने में मस्त- सामाजिक प्रभाव से हीन। धर्म को राजनीति में लाने का पहला प्रयास यही होना चाहिए कि ऐसे व्यक्तियों को प्रभावी बनाया जाए।

"एकात्म मानववाद" जिसे माननीय दीनदयाल जी ने "समाजवाद" और पूँजीवाद" के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया इस पुस्तक के लिखने के पश्चात् सतत चलने वाले राष्ट्र-चिन्तन का प्रतिफल है। "स्व" के प्रति दुर्लक्ष्य न करने और आत्माभिमुख बनने का पाठ उन्होंने सदैव दिया। अपना देश-अपनी परिस्थितियाँ, अपना चिन्तन- अपना निर्णय उनका आदर्श था। भारतीय संस्कृति के एकात्मवादी स्वरूप में विविधता में एकता अथवा एकता की विविध रूपों में व्यक्तिकरण केन्द्रस्थ विचार है जिसे हृदयंगम करने पर विभिन्न सत्ताओं के बीच का संघर्ष लुप्त हो जाता है। परस्पर पूरकता को पहचान कर उनमें परस्परानुकूलता का विकास करना तथा उसका संस्कार करना ही संस्कृति है। प्रकृति को ध्येय के अनुकूल बनाना संस्कृति और प्रतिकूल बनाना विकृति है। माननीय दीनदयाल जी ने पुस्तक की प्रस्तावना में ही लिखा है - "यहाँ एक दिशा की ओर संकेत भर दिया गया है। विकासोन्मुख भारत की मोटी रेखाएँ एवं चित्र रंग भरने का काम प्रकृति और पुरुष के द्वारा ही पूरा होगा। यह जैसे-जैसे होता जाएगा चित्र वैसे-वैसे उभरता जाएगा। हमारा कर्तव्य है कि दर्शक की उत्सुकता छोड़कर निर्माता की लगन और पुरुषार्थ से उसमें जुट जायें।"

मानव की प्रगति का मतलब शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा इन चारों की प्रगति है। मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति, उसी विविध कामनाओं, इच्छाओं तथा ईषणाओं की संतुष्टि और उसके सर्वांगीण विकास की दृष्टि से व्यक्ति के सामने कर्तव्य रूप में हमारे यहाँ चतुर्विध पुरुषार्थ है फिर भी धर्म, अर्थ और काम एक दूसरे के पूरक और पोषक हैं। धर्म महत्वपूर्ण है परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि अर्थ के अभाव में धर्म टिक नहीं पाता। आधारभूत पुरुषार्थ धर्म नहीं रहा तो

भ्रष्टाचार का दानव उत्पन्न होगा। योजना के आरम्भ से पूर्व धर्म था क्योंकि अर्थ का अभाव नहीं था, आज अर्थ के अभाव से धर्म नष्ट हो रहा है। बात पुरुषार्थ से अर्जित अर्थ की है। एकात्ममानववाद व्यक्ति के विभिन्न रूपों और समाज की अनेक संस्थाओं में स्थायी संघर्ष या हितविरोध नहीं मानता। यदि कहीं यह दीखता हो तो वह विकृति का द्योतक है। वर्ग संघर्ष की कल्पना ही धोखा है। राष्ट्र के निर्माण के यज्ञ में लगे सभी व्यक्तियों या संस्थाओं में संघर्ष हो तो यज्ञ चलेगा कैसे? वर्ग संघर्ष की कल्पना रक्त क्रान्ति के कगार पर समाज को ले आती है और सब तोड़ कर नया बनाने का आदर्श रखकर पुरानी मान्यताओं को तोड़ कर नए वर्गों की रचना कर दी जाती है। परन्तु फिर भी क्या संघर्ष रुकता है? वर्ग की कल्पना ही संघर्ष की जन्मदात्री है। हम मानते हैं कि समानता न होते हुए भी एकात्मता हो सकती है।

माननीय दीनदयाल जी ने लिखा है कि “हम अच्छी तरह समझ लें कि बहुमत में या जनता में धर्म नहीं है। इसीलिए प्रजातन्त्र की व्याख्या में जनता का शासन ही पर्याप्त नहीं, यह शासन जनता के हित में भी होना चाहिए। जनता के हित का तो निर्णय धर्म ही कर सकता है। अतः जनराज्य को धर्म राज्य भी होना आवश्यक है। सच्चा प्रजातन्त्र वहीं हो सकता है जहाँ स्वतन्त्रता और धर्म दोनों हों। धर्मराज्य में इन सभी कल्पनाओं का समावेश हो सकता है।..... सोद्देश्य, सुखी, विकासमान जीवन के लिए जिन भौतिक साधनों की आवश्यकता है वे अवश्य ही प्राप्त होने चाहिए। भगवान की सृष्टि का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि उतनी व्यवस्था उसने की है। किन्तु जब हम यह समझकर कि भगवान ने मनुष्य को केवल उपभोग प्रवण प्राणी बनाया है और उसके लिए अन्धाधुन्ध उपभोग के लिए ही अपने सम्पूर्ण शक्ति खर्च करें तो यह ठीक नहीं।..... न्यूनतम का जन्म सिद्ध अधिकार है जो सभी को देना है। वह आएगा कहाँ से? स्पष्ट है कि वह हमारे प्रयत्नों और पुरुषार्थ से ही आना चाहिए। जो समाज व्यवस्था अथवा अर्थ व्यवस्था लोगों के पुरुषार्थ में बाधक हो वह आत्मघाती है।” “विकेन्द्रित कृषि-औद्योगिक ग्राम समाज” ही माननीय दीनदयाल जी के एकात्म मानववादी नियोजन का भारतीय सन्दर्भ में एक हल है जिसे अपनाकर भारत वर्तमान निराशा के वातावरण को स्पष्ट करके प्रतिष्ठित होगा और विश्व के नेतृत्व की अपनी प्राचीन भूमिका निभा सकेगा।

